पुराणों की अमर कहानियाँ

[पुराणों की जीवन-दायिनी सत्रह अमर पुण्य-कथाएँ]

तृतीय भाग

रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री

निवेदन

पुराण भारतीय जीवन के पुराने चित्रों के अनुपम संग्रह हैं। इनमें जितने निपुणता से हमारे देश की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति की मोहक चर्चा की गई है, संभवतः उसकी तुलना में कोई अन्य सामग्री उपस्थित नहीं की जा सकती। यों तो यह धार्मिक दृष्टिकोण से रचे गए पवित्र ग्रंथ हैं और सर्वत्र भक्ति, ज्ञान, साधना, जप, तप, उपदेशादि आध्यात्मिक तत्त्वों के चिन्तन को ही इनमें प्रधानता भी है तथापि लौकिक व्यवहारों के सभी अंगों का वर्णन भी इनमें विपुलता से किया गया है। उदाहरणार्थ —व्याकरण, आयुर्वेद, ज्योतिष, वेदान्त, धनुर्विद्या, स्थापत्यकला, शिल्प-विद्या, वास्तु विज्ञान, व्यापार-वाणिज्य, राजनीति, कूटनीति, मूर्तिकला, चित्रकला, सङ्गीत शास्त्र, नृत्यकला आदि ललित-कलाओं एवं जीवनोपयोगी अन्यान्य विद्याओं का भी बड़े आकर्षक एवं सरल-सुगम ढङ्ग से वर्णन किया गया है। पुरानी कहानियों का तो यह सर्वस्व ही है। संभवतः विश्ववाङ्मय में किसी भी समुन्नत समाज की पुरानी सभ्यता एवं संस्कृति का पुराणों की कहानियों जैसा रोचक और मार्मिक वर्णन नहीं मिलेगा। पशु-पक्षियों एवं कीट-पतंगों को ही नहीं लताओं एवं वृक्षों आदि को भी इनमें वाणी दी गई है और उनके माध्यम से भी जीवन-दर्शन की जटिल गुत्थियों को सुलझाने की सफल चेष्टा की गई है।

मानव-जीवन की उपकारक प्रवृत्तियों को जाग्रत एवं क्रियाशील बनाने की प्रेरणा में भी पुराणों की कहानियाँ बेजोड़ हैं। दया, परोपकार, मैत्री, करुणा, अस्तेय, अपरिग्रह, सत्याचरण, ब्रह्मचर्य, साहस, सरलता, निरभिमानिता, त्याग, संयम, व्रत-उपवास, जप-तप, विविध प्रकार के दान, तीर्थाटन, चित्तवृत्तियों के नियमन आदि प्रसङ्गों पर तो पुराणों की सैकड़ों रोचक कहानियाँ हैं। और वे कहानियाँ ऐसी नहीं हैं, जिन्हें

एक कान से सुनकर दूसरे कान से बाहर निकाल दिया जाय। वे तो ऐसी हैं, जो कानों से प्रविष्ट होकर सीधे हृदय पर अपना अधिकार जमा लेती हैं। उनमें श्रद्धा और विश्वास का इतना गहरा रङ्ग है जो आज के विज्ञानयुग में भी धूमिल नहीं हो रहा है।

यह सत्य है कि आज के बुद्धिवादी युग में पुराणों की भावना-प्रधान कहानियों का भविष्य देखने में धुंधला प्रतीत हो रहा है, किन्तु यह भी सत्य है कि पुराणों की कहानियों में भारतीय जीवन की कुछ ऐसी महत्त्व-पूर्ण वस्तुओं के तत्त्व एकाकार हो गये हैं कि जब तक वे धरती पर रहेंगी तब तक पुराणों की इन भावना-प्रधान कहानियों का भी अस्तित्व बना रहेगा। उदाहरण के लिए काशी, प्रयाग, हरिद्वार, मथुरा, पुरी, द्वारका, रामेश्वरम्, नासिक, अयोध्या, बदरीनाथ, केदारनाथ, गंगासागर प्रभृति तीर्थस्थलों को एवं गंगा, यमुना, गोदावरी, नर्मदा, सिन्धु, गोमती, ब्रह्मपुत्र प्रभृति नदियों तथा हिमालय, विन्ध्य, अमरकंटक प्रभृति पर्वतों को ले सकते हैं। पुराणों में इन सब को लेकर जो रोचक एवं प्रेरणादायिनी कहानियाँ उपनिबद्ध हैं, उनका रंग विज्ञान अथवा बुद्धिवाद की किरणों से मिटाया नहीं जा सकता। फलतः जब तक ये वस्तुएँ रहेंगी तब तक पुराणों की कहानियों का जीवन भी सुरक्षित रहेगा। कोई भी सभ्य एवं समुन्नत जाति अपने पुराने साहित्य की निधियों को फेंक नहीं देती, भले ही आधुनिक सुख-सुविधाओं के कारण उनकी वर्तमान उपयोगिता का मूल्य कुछ कम हो जाता हो। यही कारण है कि अनेक विपरीत कठिन परि-स्थियों में पड़कर भी पुराण जीवित रहे। वे परिस्थितियाँ आज के युग में असामान्य ही कही जायँगी। वे ऐसी थीं कि उनमें पुराणों की स्थिति तो दूर पुराणों के मानने-जानने वालों की स्थिति भी संकटों से भरी थी।

पुराण हिन्दुओं के धार्मिक ग्रंथ हैं। हिन्दू-समाज में वेदों के अनन्तर इन्हीं की प्रतिष्ठा है। कदाचित् ही ऐसा कोई हिन्दू होगा, जो पुराणों की किसी न किसी कहानी की जानकारी न रखता हो। भारतीय विचार-धारा का ऐसा एक भी स्रोत नहीं दिखाई पड़ेगा, जिसका आरम्भ पुराणों

की इन कहानियों में न हो। एक प्रकार से समूचा भारतीय वाङ्मय ही पुराणों का ऋणी है। क्या काव्य, क्या कथा-साहित्य—सब में पुराणों की मनोरम कहानियों की छाया स्पष्ट दिखाई पड़ती है। यहाँ तक कि आधुनिक स्वच्छन्द कवि-कल्पनाओं को भी पुराणों की कथाएँ एवं अन्तर्कथाएँ अनवरत जीवन-दान करती दिखाई पड़ती हैं।

पुराणों का अर्थ है पुरानी कहानियाँ अथवा पुराने इतिहास के ग्रन्थ। इनकी रचना का उद्देश्य बताते हुए वेदव्यास ने अनेक स्थलों पर यही कहा है कि—

"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंश्यानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम्॥"

अर्थात् पुराणों में सृष्टि, सृष्टि का विस्तार, सूर्य-चन्द्रादि प्राचीन राजवंश, एवं स्वायम्भुव आदि मन्वन्तर तथा इतर राजवंशों की कहानियाँ ही संगृहीत की गई हैं। किन्तु आज पुराणों का जो स्वरूप हमारे सम्मुख है, उसमें उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त लौकिक एवं अलौकिक कहानियों का भी जंजाल बहुत अधिक है। उन्हें देखकर यह सन्देह स्वाभाविक रूप में उठता है कि पुराणों में प्रक्षेपों की बहुलता है। बहुत समय तक इनमें अशुद्ध सामग्रियों का मेल भी खूब हुआ है। किन्तु यह तो कहना ही पड़ेगा कि पुराणों का कुछ मूल स्वरूप वेदों से भी पूर्व विद्यमान था। अथर्ववेद में न केवल पुराणों की चर्चा की गई है, प्रत्युत उनकी कथाओं के कतिपय प्रसङ्ग भी उल्लिखित हैं। उपनिषदों, ब्राह्मणों एवं आरण्यकों में तो पुराणों की व्याख्याएँ भी दी गई हैं और कुछ प्रसङ्गों पर उन्हें चारों वेदों के साथ पाँचवाँ वेद बताया गया है। (**स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदम् सामवदेमथवर्णम् चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानाम् वेदम्। छान्दोग्य उपनिषद् ७। १। १।**) किन्तु इस उल्लेख का यह भी तात्पर्य नहीं समझना चाहिए कि वेदों अथवा उपनिषदों की रचना के समय आज के प्रचलित अठारहों महापुराणों अथवा उप-

पुराणों का वर्तमान रूप में अस्तित्व था। जिन पौराणिक सन्दर्भों का वैदिक उल्लेख मिलता है, वे अब अविकल रूप में हमारे सम्मुख नहीं हैं। प्रत्युत समय-समय पर होने वाले परिवर्तनों एवं संशोधनों से बढ़ते-बढ़ते वही आज के दर्जनों पुराणों में विभक्त हो गए हैं।

किन्तु जहाँ तक कहानियों का प्रश्न है, सम्प्रति उपलब्ध पुराणों में जीवन-दायिनी कहानियों की कमी नहीं हैं। सम्भवतः इन्हीं मोहक कहानियों की नकल पर बौद्धधर्म के अनुयायियों ने भी इन्हीं को भाँति जातक कथाओं की परम्परा प्रचलित की होगी। क्योंकि पुराणों की कहानियों के सभी गुणों एवं दुर्गुणों की भाँति उनमें भी वैसी ही बातें दिखाई पड़ती हैं, जिन्हें देखकर यह कहना पड़ता है कि यत्र-तत्र बौद्धधर्म की मर्यादा को सुरक्षित रखने का भी ध्यान उन कथाकारों को नहीं रह गया था। बिल्कुल यही स्थिति यत्र-तत्र पुराणों की कहानियों में भी है। पुराणों की कहानियो में सर्वत्र मनोवैज्ञानिक तथ्य, स्वाभाविकता अथवा तर्कसंगत प्रसंगों को ढूंढ़ना उसी प्रकार की मूर्खता है, जिस प्रकार से कोई आधुनिक वैज्ञानिक तत्त्वान्वेषी लाखों-करोड़ों भावुक मस्तिष्कों द्वारा पूजित भगवान् विश्वनाथ के पवित्र लिङ्ग-विग्रह में 'देवत्व' की खोज के प्रसंग में, प्राण-वायु का अनुसंधान करे अथवा पितरों के श्राद्धादि प्रसङ्गों में प्रदत्त पिण्डों को चन्द्रलोक तक अपनी आँखों से उड़ते देखने की अभिलाषा करे। भावना और श्रद्धा के पावन प्रतीकों में तर्कों और युक्तियों को प्रश्रय देना मूर्खता नहीं तो और क्या है? गंगा जी के पुण्य जल में स्नानार्थी के पूर्वजों समेत उद्धार करने की क्षमता को चर्म-चक्षुओं से देखना जिस प्रकार असम्भव है उसी प्रकार पुराणों की कहानियों में वर्णित अलौकिक तथ्यों के पीछे पड़कर कोई 'पहुँच की बात' निकालना भी दुर्गम है। उनसे हमें केवल इतना ही लेना है कि किसी पौराणिक कहानी के उद्देश्य का हमारे जीवन के किस सन्दर्भ पर सीधा प्रभाव पड़ता है और उसकी अपने हृदय को गहराई से स्पर्श करने वाली उदात्त भावना को हम कहाँ तक अपना सकते हैं। पवित्र देव-विग्रहों अथवा तीर्थादि की

भाँति वे भी श्रद्धा, आदर और अपने को पवित्र करने के लिए हैं। मात्र मनोरंजन उनका उद्देश्य नहीं है।

पुराणों की कहानियाँ सोद्देश्य हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिक कहानियों की भाँति उनमें कहानी-कला का प्रदर्शन तो बिल्कुल ही नहीं है। सीधी-सादी भाषा में सांसारिक जीवन को किसी उच्च लक्ष्य पर मोड़ने के लिए ही उनका ग्रन्थन हुआ है। बहुमूल्य सुवर्ण और रजत पात्रों की भाँति वे इसलिए हैं कि एक बार, दो बार किसी विशेष अवसर पर उनका सदुपयोग करके हृदय के किसी कोने में सहेज कर रख दिया जाय और वैसा ही समय पड़ने पर फिर उन्हें उपयोग में लाया जाय। मिट्टी अथवा शीशे की, रंग-विरंगी कलापूर्ण चित्रकारी से समलंकृत बाजारू पात्रों की भाँति उनका जीवन क्षुद्रकालव्यापी नहीं है। उनकी गढ़न, गंभीरता अथवा सादगी के सम्मुख नई कहानियाँ अपनी साज-सज्जा एवं कल्पना-वैचित्र्य के कारण बाहर से अधिक आकर्षक प्रतीत होंगी, किन्तु क्या क्षणिक आकर्षण के वशीभूत होकर शीशे और मिट्टी के नेत्ररंजक पात्रों को रखकर, अपने सोने-चाँदी के बहुमूल्य पात्रों को नष्ट कर दिया जाता है ? नहीं, ऐसा करना निरी मूर्खता अथवा पागलपन समझा जाता है। ठीक उसी प्रकार हमारी इन प्राचीन किन्तु पवित्र एवं प्रेरणाप्रद कहानियों को भी हृदयङ्गम किया जा सकता है। इनमें हमारी प्राचीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के उन मूल्यवान उपादानों का मिश्रण है, जिनके कारण हम आज भी अपनो छातो गर्व से फुला सकते हैं। जिस प्राचीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति ने किसी समय विश्व के हृदय में ऊँचा और आदर का स्थान प्राप्त किया था, जिसने भूमण्डल के अधिकांश प्रदेशों को अपने अमिट रङ्गों में रंजित कर दिया था, वह आज भी इन कहानियों की रग-रग में मूर्तमान है, जीवित है और हमें इस वैज्ञानिक चकाचौंध में भी प्रेरणा देने की पर्याप्त शक्ति रखती है। हमारी वह मूल्यवान धरोहर इनमें सुरक्षित है।

आज के इस वैज्ञानिक युग में भी हम अपनी पुरातत्त्व-प्रियता जताने

के लिए अथवा अपनी प्राचीन संस्कृति की उच्चता सिद्ध करने के लिए हजार-दो हजार वर्ष की पुरानी मिट्टी की टूटी-फूटी हँड़िया तथा ठीकरों को भी हजारों रुपयों एवं वर्षों के श्रम से खोजकर बड़ी सुरक्षा से रखते हैं। ससम्मान शीशे की आलमारी में बन्द करके ताला लगा देते हैं और ऊपर से उसका संक्षिप्त परिचय मात्र देते हैं। तब फिर हम अपनी इन मूल्यवान किन्तु सर्वत्र सुलभ निधियों को उपेक्षा से क्यों देखें ? इनका तो इस समय भी बहुत अधिक मूल्य है। ये तो सभी दृष्टियों से उन ठीकरों या हँड़ियों की अपेक्षा मूल्यवान हैं। इनके निर्माण में लगे हुए सुवर्ण अथवा रजत का भाव तो आज पहले से बहुत अधिक हो गया है। ये सङ्कट के समय हमारे जीवन की रक्षा करने में भी पूर्ण समर्थ हैं। अतः इनको ध्यानपूर्वक सुरक्षित रखना हमारा परम कर्तव्य है।

इसी उद्देश्य से मैंने पुराणों की इन कहानियों का ग्रंथन किथा है। पुराणों में कहानियाँ तो इतनी अधिक हैं कि ऐसी-ऐसी सैकड़ों पुस्तकें तैयार हो सकती हैं। अतः हमने इन संग्रहों में केवल ऐसी ही कहानियाँ रखी हैं, जो आज के वहुव्यस्त एवं वैज्ञानिक सुख-सुविधाओं से सम्पन्न मानव-जीवन में भी मानवता को ऊँचा उठाने वाली श्रद्धा के एकाध अंकुर उत्पन्न कर सकें तथा स्वल्प मात्रा में मनोरंजन एवं कुतूहल की शान्ति के साथ-साथ जीवन-प्रवाह में किसी उच्चादर्श की प्रतिष्ठा करा सकें। इन कहानियों का अमर ढाँचा तो पुराणों का ही है, किन्तु इनकी रूप-रेखा के निर्माण में मेरे अनुभवहीन हाथों ने भी कुछ इधर-उधर किया है। कहीं यदि कोई नवीन कल्पना प्रासंगिक जान पड़ी है तो मैंने उसे जोड़ना अपराध नहीं समझा है। कथोपकथन एवं संवादों में भी पुराणों की ही शब्दावली नहीं रखी गई है। अतएव यदि कोई पण्डितम्मन्य विद्वान् पुराणों में वर्णित मूलकथाओं से इनकी तुलना करेंगे तो उनका अमर्ष स्वाभाविक हो सकता है। आज के समाज के उपयुक्त रूप-रंग देने के लिए ही मैंने यह धृष्ठता की है। पुराणों को विद्रूप करना मेरा उद्देश्य नहीं है, मैंने तो उनके पुराने एवं उपेक्षित ढाँचों को इस नए रूप में प्रस्तुत

करने का ही प्रयत्न किया है। ज्ञात नहीं, इनकी रूप रंग-रचना का मेरा यह उद्देश्य कहाँ तक सफल हुआ है ?

यह कहानियों का युग है, बच्चे से लेकर बूढ़े तक-सभी कहानियाँ पढ़ते हैं अथवा यूं कहिए कि पढ़ने के लिए विवश किए जाते हैं। क्योंकि कोई भी समाचार पत्र, साप्ताहिक अथवा मासिक पत्र-पत्रिका कहानी के बिना उसी तरह सूनी लगती है, जैसे धन-धान्य से भरी-पुरी गृहस्थी किसी सुन्दरी के बिना सूनी दिखाई पड़ती है। सामान्य पाठक पहले कहानी पढ़ता है, बाद में और कुछ। अतएव कहानियों की इस बढ़ती लोकप्रियता को देखकर यदि हमने पुराणों के ढाँचों को नया रूप-रंग देकर कहानियों के रूप में प्रस्तुत कर दिया है तो कोई अपराध नहीं हुआ है। इन कहानियों में मानव-जीवन को समुज्ज्वल बनाने की अमोघ शक्ति है। पावन भ्रातृत्व, विश्ववन्धुत्व, देश-प्रेम, त्याग, बलिदान, मैत्री करुणा, परोपकार, जीव-दया, राज-धर्म, नैतिकता, तपस्या, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, सत्याचरण, सादगी, निर्लोभिता, दान-परायणता आदि भारतीय उच्चादर्शों के मोहक आवरण में प्रस्तुत ये कहानियाँ आपको केवल मनोरंजन ही नहीं देगीं प्रत्युत इसी बहाने कुछ अन्य उत्तम वस्तुएँ भी इनसे आपको प्राप्त होंगी। इनका अवगाहन आपके मानसिक अवसाद को अवश्यमेव दूर करेगा।

इस ग्रंथमाला में केवल ऐसी ही पौराणिक कहानियाँ दी गई हैं, जो मानव-जीवन को संस्कृत और समुन्नत बनाने वाली हैं और प्रकारान्तर से हमारे इस महान् देश के गौरवशाली अतीत का मोहक एवं प्रेरक चित्र प्रस्तुत करने वाली हैं। इनके पात्र प्रायः सभी पुराणों में प्रख्यात व्यक्तित्व ही नहीं हैं, अधिकांश ऐसे भी हैं, जिनसे हमारा चिरकाल का परिचय है। जिनके पुण्य-स्मरण हमारे मानस को स्वतः प्रेरणा एवं स्फूर्ति देने वाले हैं और जिनके सम्बन्ध की अनेक दन्तकथाएँ हम बराबर सुनते रहते हैं। हमारा ध्यान है कि इस ग्रंथमाला में पुराणों की शताधिक कहानियां तो आनी ही चाहिये। यह तृतीय भाग है, जिसमें सत्रह कहानियाँ संगृहीत हैं। इनमें से कुछ कहानियाँ हिन्दी की सुप्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं में

प्रकाशित हुई हैं और पाठकों की ओर से लेखक को पर्याप्त उत्साह भी मिला है। इनके ग्रन्थन की प्रेरणा का यही संबल रहा है।

इन कहानियों की भाषा यत्र-तत्र पौराणिक कथावस्तु के चित्रण एवं पुराण-प्रख्यात पात्रों की उपस्थिति के कारण कुछ अलंकृत अथवा भारी है। शैलीगत वैयक्तिक विशेषता भी इसका एक कारण है, जो कि अनिवार्य थी। हमें विश्वास है, हमारे पाठकों को इससे कोई बाधा नहीं पड़ेगी। देववाणी के बंद मन्दिरों में प्रवेश करने की अपेक्षा तो इसके अवगाहन में उन्हें तनिक भी कठिनाई न प्रतीत होगी।

इस ग्रन्थमाला के तीसरे भाग में ग्रथित इन कहानियों का यह क्रम हिन्दी पाठकों को यदि तनिक भी रुचिकर और उपादेय प्रतीत हुआ तो हम अपने परिश्रम को सफल मानेंगे और उत्साहपूर्वक अगले भागों को भी यथाशीघ्र उनके हाथों में दे सकेंगे।

अन्त में हम साहित्य भवन लिमिटेड के प्रधानमंत्री सुहृद्वर श्री पुरुषोत्तमदास जी टण्डन (राजा मुनुवा जी) तथा उसके संचालक मित्रवर श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी जी को हार्दिक धन्यवाद देते हैं, जिनके प्रोत्साहन, प्रेरणा, एवं सत्सहयोग से इस ग्रन्थमाला की यह तीसरी पुस्तक इस रूप में प्रकाशित हो रही है। उनके ऐसे ही सहयोग और प्रेरणा से इसके अगले भाग शीघ्र ही प्रकाशित हो सकेंगे।

प्रकाश निकेतन
कृष्णनगर, इलाहाबाद—३
मकर संक्रान्ति, २०१७

रामप्रताप त्रिपाठी

समादरणीय बन्धुवर

डा० दशरथ ओझा

(प्राध्यापक, दिल्ली विश्वविद्यालय)

के

कर-कमलों में

कहानियों का क्रम

———

सुकन्या और च्यवन

महाराज शर्याति अपने समय के राजाओं में सर्वाधिक लोकप्रिय थे। प्रजा उन पर प्राण देती थी और वह भी प्रजा को पुत्र के समान प्यार करते थे। उनकी न्याय-निष्ठा और पर-दुःख-कातरता की सर्वत्र गूंज थी। वे अपनी राजधानी में बैठकर ही बारहों महीने शासन नहीं चलाते थे। शरद ऋतु के आरम्भ होते ही वे सपरिग्रह राजधानी से बाहर निकल पड़ते थे और अपने राज्य के सुख-दुःख, सम्पदा-विपदा और लाभ-हानि की प्रत्यक्ष जानकारी प्राप्त करते थे। धर्म उनका रक्षक था और दण्ड उनका प्रहरी था।

एक बार महाराज शर्याति महर्षि च्यवन के दर्शनार्थ उनके आश्रम की ओर गए। उनके संग मन्त्रि-परिषद् के कुछ वरिष्ठ सदस्य, उनकी एक मात्र प्राणोपम पुत्री सुकन्या तथा गज एवं अश्वारोहियों की कुछ टुकड़ियाँ थीं। महामुनि की तपश्चर्या में कोई बाधा न पड़े यह सोचकर उन्होंने अपना दल-बल आश्रम से दूर ही छोड़ दिया और स्वयं मंत्रियों के साथ महर्षि के दर्शनार्थ पैदल चल पड़े। किन्तु मुख्य कुटीर में महर्षि च्यवन का कुछ पता नहीं था। उनके विविक्त आश्रम में अन्य पशु-पक्षियों ने इस प्रकार डेरा डाल रखा था कि राजा को यह अनुमान भी नहीं हो सका कि कदाचित् वर्षों पूर्व भी यहाँ किसी मानवजन्मा के चरण पड़े हों। इधर-उधर तलाश कर वे निराश होकर पीछे की ओर लौट पड़े।

इधर महाराज शर्याति की पुत्री सुकन्या उनके जाने के बाद ही अपनी सहेलियों के संग महर्षि के आश्रम में इधर से उधर परिभ्रमण कर रही थी। राजधानी के संकुल जीवन में मुमुर्षु उसकी लालसा की मनोहर कलियाँ आश्रम के स्वच्छन्द एवं निरर्गल वातावरण में आते ही खिल उठीं। वह अभी चौदह वर्ष की थी। एक राजपुत्री होने की लोकमर्यादा का दुर्वह भार

अपने कन्धों से उतार फेंकना उसके लिए कुछ कठिन नहीं था। वह अबोध शिशु की भाँति अपनी सखियों के संग दौड़-दौड़ कर इधर से उधर और उधर से इधर घूम-घूम कर देखने लगी। वन के पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, लता-बल्लरी एवं पुष्प-फलादि देखकर वह झूम उठी। आश्रम की ऊँची-नीची, समतल और पथरीली धरती पर वह राजभवन के मणिखचित आँगनों की भाँति थिरकने लगी। कभी कूद कर ऊपर चढ़ जाती और कभी नीचे कूद पड़ती। अन्ततः परिचारिकाओं के पृष्ठगामी समूह को भुलावे में डालकर सुकन्या अपनी एक-दो सखियों के संग ऐसे दुर्गम स्थल पर पहुँच गई जहाँ उसके क्रिया-कलाप में बाधा डालने वाला कोई नहीं रह गया।

उस दुर्गम स्थल पर एक बटवृक्ष के समीप स्तूपाकार जमी मिट्टी के एक छोटे-से टीले को देखकर सुकन्या कुतूहलवश उसके समीप पहुँच गई। उसने देखा कि इस टीले के नीचे कुछ पुराने पुष्प-फलादि सूखे हुए पड़े हैं। दीमकों और चींटों की लम्बी पंक्ति नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे घूम रही हैं और ऊपर की ओर समानान्तर पर दो चमकती हुई वस्तुएँ दिखाई पड़ रही हैं। वह उस समय अकेली थी। उसकी सखियाँ थककर कुछ दूरी पर बैठकर सुस्ता रही थीं। सुकन्या बड़ी देर तक उन चमकती हुई चीजों को अपलक देखती रही और इसके बाद उसने एक सूखी लकड़ी को उन चमकती हुई चीजों में घुसाकर देखना चाहा कि आखिर ये हैं क्या ? लकड़ी के घुसते ही उन चमकती हुई वस्तुओं का कुछ पता नहीं लगा और उनसे रक्त की धारा फूट निकली। सुकन्या ने अनुभव किया कि रक्त की धारा के साथ ही उस स्तूपाकार मृत्तिका खण्ड में एक जोर का कम्पन हुआ, जिससे समूचे आश्रम की धरती हिल उठी। वृक्ष-बल्लरियाँ काँप उठीं। पशु-पक्षी अवसन्न होकर भागने लगे और थोड़ी देर तक भूकम्प के एक लघु झटके का अनुभव होता रहा। अपनी बाल-सुलभ चंचलता में विभोर सुकन्या उस भयावने दृश्य को भुलाने के लिए शीघ्र ही भागकर अपनी सखियों के समीप चली आई और बिना किसी से कुछ

कहे-सुने उस दुर्घटना को भुलाने का असफल प्रयत्न करने लगी किन्तु किसी दूसरे व्यक्ति को इसका कुछ भी पता नहीं लगा।

× × ×

दिन भर से महर्षि च्यवन के आश्रम में पड़ी हुई महाराज शर्याति की सेना एवं अन्य शिविरवासियों की बड़ी दुर्दशा थी। समान रूप से भयंकर उदर-व्याधि के कारण सभी चीत्कार कर रहे थे। घोड़े और हाथी भी बेचैन थे। केवल सुकन्या और शर्याति इस महाव्याधि से अछूते थे। पहले तो लोगों ने किसी दूषित अन्न-जल को ही इस महाव्याधि का कारण माना था किन्तु हाथियों और घोड़ों की चीत्कार एवं दुर्दशा ने उनको यह सोचने के लिए विवश किया कि इस दुर्घटना के मूल में अवश्य ही किसी देवी-देवता का प्रकोप या अदृष्ट का हाथ है। असह्य पीड़ा से कराहते हुए शिविर में महाराज ने सबसे यह बताने का अनुरोध किया कि यदि किसी ने जान-बूझ कर यहाँ कोई अपराध किया हो तो तुरन्त स्पष्ट बता दे, जिससे उसका प्रायश्चित करके सब की प्राण-रक्षा की जा सके, अन्यथा इस प्रकार तो किसी के भी प्राण नहीं बचाये जा सकेंगे। किन्तु महाराज के अनुरोध पर भी जब सब लोग चुप ही रह गये तब सब की चिन्ता बढ़ गई। मंत्रि-परिषद् के सदस्यों ने पुनः महाराज की आज्ञा को कह सुनाया, किन्तु फिर भी चतुर्दिक निस्तब्धता ही रही।

फिर तो थोड़े क्षणों की असह्य निस्तब्धता को भंग करती हुई सुकन्या ने सब के सम्मुख अपने अपराधों का उल्लेख करते हुए जब उस रोमांचकारी घटना का पूरा विवरण कह सुनाया तो मंत्रि-परिषद् समेत महाराज शर्याति को यह समझने में देर नहीं लगी कि सारी दुर्घटना के मूल में सुकन्या के उसी अपराध का ही हाथ है। वे सुकन्या के संग तत्क्षण उस टीले के समीप पहुँच गये, जहाँ नेत्रों की पीड़ा से व्याकुल महर्षि च्यवन अब मिट्टी के स्तूप से बाहर निकल कर लेटे हुए थे। उनके चतुर्दिक आश्रमवासी पशु-पक्षियों की भीड़ लगी थी, जो महाराज शर्याति और सुकन्या के समीप आते ही दूर हटने लगी थी।

समीप आते ही महाराज शर्याति ने दौड़कर महर्षि के चरणों को अपने शीश पर लगा लिया और अनेक प्रकार की कातर प्रार्थना करते हुए अपनी कन्या द्वारा अनजान में किये गये इस महान् अपराध की क्षमा माँगी। महर्षि च्यवन का शरीर वर्षों के कठोर तप, शीत और घाम के कारण सूख गया था। मिट्टी के स्तूप में वर्षों तक निवास करने के कारण उसमें जगह-जगह घाव हो गये थे, किन्तु दोनों आँखों के फूट जाने के कारण अब उनकी बड़ी ही करुणाजनक दशा थी। अपनी असह्य पीड़ा को सहन करते हुए उन्होंने सहज प्रसन्न स्वर में कहा—

'महाराज ! तुम्हारी कन्या ने मुझे अन्धा बना कर धर्म की जो हानि की है, उसकी पूर्ति का उपाय भी तुम ही कर सकते हो क्योंकि इस निर्जन वन में बिना किसी की सहायता के मैं अब अपने शारीरिक धर्मों का पालन भी कैसे करूँगा ?'

महाराज शर्याति ने तुरन्त आश्वासन देते हुए कहा—'महर्षे ? मैं आपकी सेवा के लिए अनेक सेवकों की नियुक्त कर दूँगा। आप मेरी पुत्री के अपराध को क्षमा कर हमें अभयदान करें।'

च्यवन बोले—'राजन् ! अंधे व्यक्ति का जीवन अपार समुद्र है। बिना ममत्व के केवल जीविकार्थ सेवा करने वाले सेवकों की सेवा मुझे नहीं चाहिए, क्योंकि मुझे अभी संसार में बड़े-बड़े काम करने हैं। तुम्हारी जिस विवेकशून्य कन्या ने मुझे अंधा बनाया है, वही जीवन भर मेरी सेवा का यदि व्रत ले तो तुम्हारा सबका कल्याण सम्भव है, अन्यथा नहीं और कथमपि नहीं।'

महर्षि च्यवन का अन्तिम वाक्य इतना रूक्ष किन्तु स्पष्ट था कि महाराज शर्याति कटे हुए वृक्ष की भाँति सहसा पृथ्वी पर गिर पड़े और असहायों की भाँति रुदन करने लगे। एक ओर उनकी जीवन-निधि सुकन्या का सुख-सौभाग्य था तो दूसरी ओर राजपाट समेत अपने को भस्म करने वाली च्यवन जैसे ऋषि की क्रोधाग्नि की भयंकर ज्वाला थी, जिसे सहन

करने की शक्ति त्रैलोक्य भर में किसी में नहीं थी। शर्याति की इस पीड़ा की कोई औषधि धरती भर में नहीं थी।

'मैं अपने सारे जीवन को महर्षि के चरणों में अर्पित करती हूँ पिता जी ! आप इस छोटी-सी बात के लिए इतना अधीर होकर अपनी मर्यादा का उपहास क्यों करते हैं ?' सुकन्या की इस विस्मयकारिणी वाणी ने महर्षि च्यवन के विविक्त आश्रम में अमृत की वर्षा कर दी। शर्याति हतप्रभ थे, किन्तु उन्होंने देखा कि आश्रम के वातावरण में एक स्वर्गीय लहर दौड़ पड़ी है और उधर पूर्व दिशा की ओर उनके शिविर में सहसा रोग विमुक्ति हो जाने के कारण मांगलिक वाद्यों की धूम मची हुई है। धरती से उठकर उन्होंने अपने धूलि-धूसरित अंगों को ठीक किया और महर्षि के चरणों में प्रणिपात करती हुई सुकन्या को गले लगा कर अत्यन्त शोक के स्वर में कहा—

'पुत्री ! अपने पूर्व जन्मार्जित कर्मों के इस दुःसह परिणाम का वरण करने के लिए ही तुम मेरे साथ यहाँ आई थी—यह मुझे क्या मालूम था ? विधि की इस विडम्बना को स्वीकार करने के पूर्व ही मेरे प्राणों को शरीर से चला जाना चाहिए था, किन्तु लगता है, अभी इस अधम शरीर की और भी कोई गति शेष है। अस्तु ! महर्षि की इच्छा की पूर्ति करके तुमने अपने पिता के कल्याणार्थ जो व्रत ग्रहण किया है, उसकी इस धरती पर कोई मिसाल न होगी। तुमने मेरे कुल को उबार लिया है बेटी ! अन्यथा ऋषि की शापाग्नि में दग्ध शर्याति के राज-पाट और प्रजा वर्ग का कोई नाम लेवा भी न बचता। धन्य हो पुत्री, तुम्हें पाकर मैं भी धन्य हूँ।'

सुकन्या बोली—'तात ! मैं स्वयं अपने कर्मों का फल भोगने जा रही हूँ, उसके कारण यदि किसी का हित होता है तो इसमें मेरा ही सौभाग्य है। आप मुझे आशीर्वाद दें कि मेरा यह जीवन कल्याणमय हो।'

सुकन्या ने च्यवन के चरणों में अपने जीवन को अर्पित कर अपना अतीत भुला दिया। वह सम्राट् की एकलौती लाड़ली थी। कितनी मनुहारों और सुख की कल्पनाओं में वह पली थी—इसे बताने की आवश्यकता

नहीं। किन्तु निर्जन वन में एक अन्धे, क्रोधी और रूक्षप्रकृति पति के संग रहने के लिए उसने तत्क्षण तदनुकूल जीवन धारण कर लिया। अपने कौशेयाम्बरों को त्याग कर उसने बल्कल धारण कर लिये और बिलखते हुए पिता तथा सहेलियों की ओर से मुख मोड़कर च्यवन की सेवा में ऐसी दत्तचित्त हो गई मानों जीवन के आरम्भ से ही उसे ऐसे जीवन का अभ्यास रहा हो।

निराश, चिन्तित और असह्य पीड़ा से बिलखते हुए पितृ-परिवार को विदा देकर सुकन्या निश्चिन्त हो गई और उसी दिन से महर्षि च्यवन की सेवा-शुश्रूषा में लीन हो गई। वन्य फल-फूलों एवं लता-बल्लरियों से परिचय प्राप्त कर वह कुछ ही दिनों में वन के पशु-पक्षियों की भी प्रिय सहचरी बन गई। परछाई की भाँति रात-दिन च्यवन के संग रहकर उसने अपनी अनवरत सेवा-शुश्रूषा एवं उचित खान-पान की व्यवस्था से उन्हें नीरोग और हृष्ट-पुष्ट बना दिया।

कुछ दिनों बाद सुकन्या की परीक्षा का एक विचित्र अवसर और उपस्थित हुआ। देव-वैद्य अश्विनीकुमारों की जोड़ी सुकन्या के त्रैलोक्य दुर्लभ रूप-लावण्य एवं सौन्दर्य-चर्चा से अवगत थी। एक दिन प्रातःकाल नदी-तट पर स्नान करती हुई सुकन्या की सौन्दर्य-राशि को देखकर वे अपने देवयान से नीचे उतर पड़े। अपने जीवन में उन्हें अब तक यही ज्ञान था कि संसार की कोई भी सुन्दरी उन्हें अवज्ञा की दृष्टि से नहीं देख सकती। किन्तु जब बड़ी देर हो जाने पर भी सुकन्या ने उनकी ओर दृष्टिपात नहीं किया तो इन देव-वैद्यों ने उसके ऊपर भी अपनी माया का जाल फैलाया। क्षण भर में ही चतुर्दिक वासन्ती सुषमा का उत्तेजक वातावरण उपस्थित हो गया। चराचर में जीवन की ऐसी माधुरी फैल गई, जिसमें स्थिर रहना बड़ा कठिन था। सुकन्या ने स्वयं अपने शरीर की अन्तर्दशा का अनुभव किया किन्तु वह तत्क्षण सँभल गई। अपने और अपने तेजस्वी पति के अखण्ड ब्रह्मवर्चस् का स्मरण करते ही उसका मन प्रसन्नता से भर गया। उसकी सुन्दरता और भी बढ़ गई और उसका संयम और भी दृढ़तर हो

गया । उसने अश्विनीकुमारों की ओर देखकर भी नहीं देखा और तुरन्त अपना वल्कल लेकर अपने गन्तव्य पर चल पड़ी ।

अश्विनीकुमारों की दशा अब भी दयनीय थी । कहाँ तो वे सुकन्या का तप नष्ट करने के लिए आये थे और कहाँ स्वयं भ्रष्ट होने लगे । सुकन्या के अखण्ड तप एवं संयम से देदीप्यमान मुखमण्डल को भुला देना उनके वश में नहीं था । वे आगे बढ़े और सुकन्या के मार्ग में खड़े होकर एक साथ ही बोल पड़े—

'देवि ! इस निर्जन वन में वनदेवी के समान एकाकिनी विचरण करने वाली तुम कौन हो ? हम लोग देव-वैद्य अश्विनीकुमार हैं, जो सदा इसी भाँति अजर-अमर रहेंगे । हम तुम्हारा सम्मान करने के लिए ही आकाश मार्ग से नीचे आये हैं । एक मानव-जन्मा के लिए हम देवताओं की यह अवज्ञा कथमपि उचित नहीं कही जा सकती देवि !'

सुकन्या ने धृष्ट अश्विनीकुमारों को और आगे तक बढ़ने का अवसर देना अनुचित समझा । वह अपनी सहज गम्भीर वाणी में बोली—'देव वैद्यो ! तपस्वी एवं तेजस्वियों में शिरोमणि महर्षि च्यवन की मैं पत्नी हूँ । एक पत्नी के लिए एकान्त में किसी पर-पुरुष का दर्शन एवं संभाषण शास्त्र-विरुद्ध है । आप मेरे मार्ग से हट जायँ । आपको ज्ञात नहीं है कि मेरे पति को देवराज इन्द्र की भी कोई चिन्ता नहीं है । मैं मानव जन्मा अवश्य हूँ, किन्तु ऐसे देवताओं के लिए मुझे दण्ड देने में कोई अनौचित्य नहीं दिखाई पड़ता, जो अपने मार्ग से नीचे उतर कर भ्रष्ट हो रहे हों । आपका मार्ग आकाश है और हम लोग धरती के निवासी हैं । आकाश और धरती के मार्गों में कभी कोई संघर्ष रहा ही नहीं । किन्तु यदि अब आप लोग आकाश का मार्ग छोड़कर धरती पर चलने वालों का मार्ग रोकना चाहते हैं तो हमें भी उसका प्रतीकार करना होगा । मैं अपने तेजस्वी पति से आप लोगों के अविनय की चर्चा अवश्य करूँगी ।'

सुकन्या का तेजस्वी मुखमण्डल और भी प्रदीप्त हो उठा । जिसकी सहज सुन्दरता अभी कुछ क्षणों पूर्व अश्विनी कुमारों का हृदय बेध रही

थी, वही अग्नि के दाहक पुंज की भाँति अब उन्हें जलाने का साधन प्रतीत होने लगी। किन्तु देवजाति सदा से चतुर रही। अश्विनीकुमारों ने मार्ग छोड़ कर विनीत स्वर में निवेदन किया—

'देवि ! हम लोग तो आपकी अखण्ड तपस्या और साधना से सुप्रसन्न होकर आपको वरदान देने के लिए यहाँ उपस्थित हुए हैं किन्तु आपने शीघ्रता के कारण हमारी वाणी का तात्पर्य ही गलत समझ लिया। हमारे आगमन का मतलब यही है कि हम जो भी वरदान स्वेच्छया देने के लिए आपके समीप आये हैं, उसे स्वीकार कर आप हमें अनुगृहीत करें। आप जैसी तपस्विनी एवं प्रतिप्राणा पत्नी के लिए संसार में कुछ भी अदेय नहीं है देवि ! यदि हमारी चेष्टा, वाणी एवं क्रियाओं से आपको कुछ अनुचित प्रतीत हुआ हो तो कृपा कर हमें क्षमा करें और अपनी सेवा का सदवसर प्रदान कर हमें अनुगृहीत करें।'

सुकन्या राजा की कन्या थी। वह सब कुछ समझती थी किन्तु अपने जीवन के इन महत्त्वपूर्ण क्षणों की अवज्ञा करना उसने उचित नहीं समझा। वह कुछ क्षण चुप रह कर धीर-गम्भीर स्वर में बोली—

'देव वैद्यो ! मैं आपके इस प्रस्ताव को अपने पति के सम्मुख विचारार्थ रखूँगी। अच्छा होगा कि आप लोग स्वयं उनके समीप चलकर निवेदन करें।'

पतिव्रता के तेज से भयभीत अश्विनी कुमारों ने सुकन्या का अनुसरण किया और च्यवन के समीप पहुँचकर उन्होंने निवेदन किया—'महर्षे ! हम देव-भिषक् हैं। आप और आपकी पत्नी की अखण्ड साधना और तपस्या से सुप्रसन्न होकर हम स्वयमेव वरदान देने के लिए यहाँ आये हैं ! आपको जो भी अभिलषित हो हमसे माँग सकते हैं।'

महर्षि च्यवन त्रिकालदर्शी थे। अपने भावी जीवन के इस प्रवेश द्वार को पहचानने में उन्हें विलंब नहीं लगा। कुछ क्षण चुप रहकर वह बोले-- 'देव वैद्यो ! आप लोगों का मैं उपकार मानता हूँ, जो स्वयं हमारे आश्रम में आने का कष्ट आपने किया हैं। मैं भी आप लोगों का कल्याण-साधन

बन सकता हूँ। यदि आप कृपापूर्वक सुकन्या के वय और सौन्दर्य के अनुरूप वय और सौन्दर्य हमें भी प्रदान करें तो हम दोनों प्राणी इस धरती पर आजीवन धर्म की रक्षा करते हुए मानवजाति के कल्याण के लिए अनेक शुभ कार्य करेंगे और साथ ही प्रत्युपकार स्वरूप आपकी अभिलाषा भी पूरी करेंगे।'

देववैद्यों ने 'एवमस्तु' कहकर जर्जर अंगों वाले अंध च्यवन का दाहिना हाथ पकड़ लिया, और उन्हें समीपवर्ती सरोवर में स्नान के लिए चलने का संकेत किया। सुकन्या भी च्यवन के संग थी। रंग-बिरंगे कमलों की मनोहर पंक्तियों से सुशोभित सरोवर की नील जलराशि के तट पर सुकन्या को खड़े होने का संकेत कर देव वैद्यों ने च्यवन के संग ही जल में प्रवेश किया और पूर्वाभिमुख होकर सूर्यनारायण को नमस्कार कर एक साथ ही डुबकी लगाई। जल के भीतर कुछ क्षणों तक रहने के बाद जब उन तीनों ने बाहर मुख निकाला तो सुकन्या को यह देखकर महान् आश्चर्य हुआ कि वे तीनों एक ही रंग रूप के परम सुन्दर नवयुवक थे। उनके परम तेजस्वी मुखमण्डल की सुन्दरता विकसित कमलों का निरादर कर रही थी। सुकन्या के आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उसने एक ही संग बोलते हुए तीनों पुरुषों की यह समवेत वाणी सुनी। वे तीनों ही मुस्कराते हुए कह रहे थे—

'सुमुखि ! हम तीनों में से किसी एक को स्वीकार करके तुम अपना जीवन सुखमय बना सकती हो।'

सुकन्या की यह तीसरी परीक्षा थी। किन्तु उसने धैर्य का त्याग नहीं किया। अपने निर्मल अन्तःकरण में अपने पूर्व-पति के स्वरूप का अनुध्यान करती हुई वह विनीत स्वर में बोली—

'देव वैद्यो ! मैं उन महानुभाव च्यवन की अर्धाङ्गिनी हूँ, जिन्होंने जीवन भर में कभी किसी पर-स्त्री को कुदृष्टि से नहीं देखा है। मैं जन्म-जन्मान्तर में भी उन्हीं की दासी बनी रहना चाहती हूँ। इस द्यूत में सम्मिलित होकर मैं अपना तथा अपने पूज्य पति के धर्म का नाश नहीं

करना चाहती। अतः आप लोग निर्भ्रान्त रूप से हमारे पति को ही हमें प्रदान करें, क्योंकि मैंने स्वप्न में भी कभी किसी पर-पुरुष के रूप और यौवन के बारे में कुछ सोचा भी नहीं है।'

कुछ क्षण चुप रह कर वह फिर बोली—'यदि अब तक मेरा चरित्र निर्मल रहा है, और मेरी तपस्या अखण्डित रही है तो मेरी प्रार्थना भी सफल होगी।'

सुकन्या के यह कहते ही आकाश से पुष्पों की वृष्टि होने लगी। दिशाएँ प्रसन्न हो गईं। शीतल मंद सुगन्ध पवन की लहरों ने चराचर में नव-प्राण डाल दिये। पक्षी कूजने लगे और आकाश मंडल में अवस्थित भास्कर की किरणों ने इस अनुपम पतिव्रता की तपस्या के अमोघ प्रभाव को स्वीकार करते हुए मुक्त अट्टहास किया।

फिर तो देव वैद्यों ने दोनों ओर से च्यवन के हाथों को पकड़कर उन्हें सरोवर के मध्य से बाहर निकाला। उस समय उनके अनुपम सुघटित सुन्दर शरीर के अंग-प्रत्यंगों की छटा अलौकिक थी। उनके मुखमण्डल में पूर्णिमा के चन्द्रमा को तिरस्कृत करने वाली अपार सुषमा देखकर सुकन्या निहाल हो उठी। वह दौड़कर अपने पति के चरणों पर गिर पड़ी। उसकी शरीर-यष्टि काँप रही थी और सघन पुलकावली तथा स्वेद प्रवाह के कारण वह अपनी इस अपूर्व अवस्था पर स्वयं आश्चर्यचकित थी।

च्यवन ने प्रथम बार सुकन्या की रूपराशि देखी। त्रैलोक्य में अभी तक उन्होंने ऐसा अनिन्द्य रूप और यौवन का संयोग नहीं देखा था। सुकन्या की विगत सेवाओं एवं सद्गुणों का स्मरण कर उन्होंने प्रेमाश्रु बहाते हुए उसे खींचकर अपने कण्ठ से लगा लिया। उन्होंने समवेत नयनों से देखा कि चराचर में आनन्द की सरिता उमड़ रही है। दिशाएँ नाच रही हैं और धरती में सर्वत्र मंगलगान हो रहा है। जीवन के इस परम मांगलिक क्षण की अनुभूति में आत्मविभोर च्यवन दम्पती ने खुले हृदयों से अश्विनीकुमारों का अभिनन्दन किया और उनके प्रत्युपकार के निमित्त अपने को आजीवन आभारी माना।

त्रैलोक्य दुर्लभ च्यवन और सुकन्या की इस मंगल जोड़ी को देखकर अश्विनी कुमार भी थिरक उठे। उन्होंने वर-वधू को बहुमूल्य वस्तुएँ भेंट करते हुए उनके भावी जीवन की शुभाशंसा की और कहा—'महर्षे ! आपकी अखण्ड तपस्या एवं ब्रह्मवर्चस् की अमोघ महिमा से ही यह सब कुछ हुआ है, तथापि हमारा भी एक कार्य आपको करना है। हमें वैद्य जानकर देव-यज्ञों में भाग नहीं दिया जाता। अतः हमारी प्रार्थना है कि आप हमें भी यज्ञभागी देवताओं की पंक्ति में बैठने का अधिकारी बनायें।'

च्यवन ने अश्विनीकुमारों को शीघ्र ही वैसा करने का आश्वासन देकर बिदा दी और स्वयं अपनी प्राणप्रिया सुकन्या के संग अपने श्वसुर महाराज शर्याति की राजधानी की ओर प्रस्थान किया।

राजधानी में अपनी प्राणोपम पुत्री सुकन्या और जामाता च्यवन के शुभागमन का संवाद सुनकर महाराज शर्याति को परम प्रसन्नता हुई। किन्तु जब उन्होंने देखा कि उनकी पुत्री ने च्यवन के स्थान पर किसी सुन्दर युवक को अपना पति बना लिया है तो वे क्रोधान्ध होकर उसे तत्क्षण राजधानी से बाहर करने की आज्ञा देने को विवश हो गये। किन्तु सुकन्या ने स्वयं पिता की सेवा में उपस्थित होकर जब हँसते हुए सम्पूर्ण वृतान्त बताया तो शर्याति की राजधानी में आनन्द का समुद्र उमड़ पड़ा। च्यवन जैसा तपस्वी, साधक, विद्वान्, सर्वगुणोपेत, अलौकिक सुन्दर जामाता पाना शर्याति की कल्पना में भी नहीं था। उन्होंने बारह दिनों तक अपनी राजधानी में च्यवन और सुकन्या के आगमन का महोत्सव रचा।

अपने श्वसुर महाराज शर्याति के यहाँ रहकर च्यवन ने एक महान् यज्ञ का अनुष्ठान करने की प्रेरणा दी। सम्राट् शर्याति को अभाव किसी चीज का नहीं था। त्रैलोक्य की सभी सुविधाएँ उन्हें प्राप्त थीं। शीघ्र ही उक्त यज्ञ का महान् आयोजन किया गया और उसमें आचार्य के पद पर स्वयं च्यवन का वरण किया गया। कृतज्ञ च्यवन ने अन्य देवताओं के संग अश्विनी कुमारों के लिए भी यज्ञ-भाग नियत किया और उनके निमित्त भी

पृथक् से मंत्रों का प्रणयन किया। अब तक यज्ञों में देवराज इन्द्र की ही प्रमुखता थी और उन्हीं की व्यवस्था के अनुसार कुछ गिने-चुने देवताओं को ही यज्ञभाग मिलता था। धरती पर होने वाले इस महान् यज्ञ में अश्विनी कुमारों को यज्ञभाग दिये जाने का संवाद जब देवराज इन्द्र को मिला तो वे च्यवन पर परम क्रुद्ध हुए। अपने अमोघ वज्र से च्यवन का सिर सहस्रों टुकड़ों में चूर्ण कर देने के लिए वे स्वयं यज्ञ-मण्डप में उपस्थित हो गये। क्रोधान्ध होने के कारण उनकी विकराल भृकुटियों से जैसे अग्नि के स्फुलिंग गिर रहे थे, भुजाएँ फड़क रही थीं, मस्तक पर वक्र-रेखाओं का जाल था और दांत कटकटा रहे थे। क्रोधोन्मत्त देवराज की यह मनोदशा देखकर यज्ञ-मण्डप में खलबली मच गई। महाराज शर्याति भय से काँपने लगे और पुरोधागण देवराज की स्तुति करने लगे।

किन्तु च्यवन अविचलित थे। अपनी सहज मन्द मुस्कान से देवराज का स्वागत करते हुए उन्होंने कहा—'देवराज! आपने हमारे यज्ञ में प्रत्यक्ष उपस्थित होने का जो अनुग्रह किया है, उसे मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ। किन्तु इस प्रकार भयंकर आवेश में आपको लिप्त देखकर मैं जानना चाहता हूँ कि आपने यह अकारण कोप क्यों धारण कर रखा है? क्रोध तो शरीर और आत्मा के ओज का विध्वंसक है देवराज!'

च्यवन की इस मर्मभेदिनी वाणी ने देवराज को और भी क्षुब्ध कर दिया। वे अपने स्थान से कूदकर च्यवन के नितान्त समीप पहुँच गये और समीप ही था कि उनके वज्र से च्यवन का शिर चूर्ण हो जाता, किन्तु च्यवन भी असावधान नहीं थे। उन्होंने मंत्राभिषिक्त कमण्डलु के जल से कुछ बूँदें निकाल कर इन्द्र के ऊपर फेंकते हुए कहा—

'सावधान देवराज! ब्रह्मतेज को खर्वित करने वाली तुम्हारी हिंस्र-भावना का उचित प्रतीकार यही है कि तुम्हारा वज्रयुक्त यह हाथ ऊपर ही टिका रह जाय। मैं देखता हूँ कि तुममें कौन-सी ऐसी शक्ति है, जिससे तुम्हारा हाथ नीचे आ सकेगा।'

फिर क्या था। सहस्रों मदोन्मत्त गजराजों के समान बलशाली दुर्जेय

देवराज का वज्र समेत दाहिना हाथ आकाश में उसी प्रकार स्थिर रह गया। उनकी सहस्रों चेष्टाएँ विफल रहीं। यज्ञ-मण्डप में समुपस्थित सहस्रों मानव-जन्माओं के सम्मुख देवराज की यह दुर्दशा घंटों तक बनी रही। अपमान, कुण्ठा और ग्लानि से पीड़ित होकर, न वे वहाँ से जा ही सकते थे और न खड़े ही रह सकते थे। अपने ही वज्र के दुर्वह बोझ से उनकी दाहिनी भुजा मूल भाग से मानों फटने-सी लगी। कुछ क्षणों तक तो वे अपनी असह्य पीड़ा का बोझ सँभाल सके, किन्तु जब धैर्य और साहस समाप्त हो गया तो वे 'त्राहिमाम्, त्राहिमाम्' करते हुए च्यवन की प्रार्थना करने लगे।

दयालु च्यवन ने देवराज को क्षमा-दान कर महाराज शर्याति का यज्ञ समाप्त कराया और उसमें अपने उपकारी अश्विनीकुमारों को ससम्मान अभिनन्दित किया।

राजा वृषदर्भ और सेदुक की प्रतिस्पर्द्धा

प्राचीन काल में भारतवर्ष के दक्षिणी अंचल में वृषदर्भ नाम के एक राजा थे। उनका राजकोश सुवर्ण एवं रत्नादि से सदैव भरा-पुरा रहता था। इसका कारण यह था कि उनके राज्य में सदैव सुभिक्ष रहता था और उनकी राज्य-सीमा के अन्तर्गत बहुमूल्य रत्नों एवं सुवर्ण-रजतादि की खानें थीं। राज्य के सीमावर्ती समुद्र-तट पर मोती और मूँगे का भाण्डार था और अधीनस्थ छोटे-मोटे राजाओं से भी उन्हें कर के रूप में प्रति वर्ष बहुतेरे धन-धान्य की प्राप्ति हो जाती थी। किन्तु राजा वृषदर्भ को इसका अभिमान नहीं था। वह पुत्र के समान अपनी प्रजा के हितार्थ सब कुछ करने को सदैव तैयार रहते थे और अधर्म तथा अनीति के कट्टर शत्रु थे। मिथ्यावादी, चोर, कुमार्गी, पर-पीड़क और आततायियों के लिए जहाँ वह यमराज के समान क्रूर थे वहीं दीन-दुःखियो, रोगियों, विद्वानों, पण्डितों और सत्कर्मपरायण लोगों के वह अनन्य हितैषी और सुख-दाता मित्र के समान थे।

राजा वृषदर्भ की दान और यज्ञों में बड़ी निष्ठा थी। उनका नियम था कि वह यज्ञों में दक्षिणा-स्वरूप ब्राह्मणों को केवल सुवर्ण तथा अन्य याचकों को रजत (चाँदी) का दान करते थे। छोटे-छोटे सामान्य प्रसंगों पर भी वे ब्राह्मणों को सुवर्ण का दान करते थे और जहाँ भोजन, वस्त्र, पात्र एवं वाहनादि के दान के अवसर आते थे वहाँ भी उनके वर्तमान मूल्य से द्विगुणित मूल्य का सुवर्णादि वे दान करते थे। उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली थी कि सुवर्ण और रजत के सिवा कभी किसी को कोई दूसरी वस्तु दान में न दी जाय। भूमण्डल भर में राजा वृषदर्भ की इस दान-परिपाटी की प्रसिद्धि हो चली थी और बहुत-कम ऐसे लोग थे, जिन्हें यह बात मालूम न रही हो।

किन्तु यह सब होते हुए भी राजा वृषदर्भ के शत्रुओं की कमी नहीं थी। प्रतिदिन बढ़ते हुए उनके प्रभाव और यश को देखकर मन ही मन अप्रसन्न और कुण्ठित होने वाले उनके पड़ोसी राजाओं की संख्या अधिक थी। वृषदर्भ की कठोरता और अनुशासनप्रियता से राज्य के दुष्ट-लम्पटों को भी बहुत चिढ़ रहती थी और वे सदा इस बात के प्रयत्न में रहते थे कि किसी प्रकार वृषदर्भ को पदच्युत, अपमानित और लाँछित किया जाय। किन्तु ईश्वर की कृपा थी कि वृषदर्भ की यशश्चन्द्रिका शुक्ल-पक्ष की चन्द्र-कला की भाँति उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। जहाँ पहले वर्ष भर में एक-दो महान् यज्ञ और दानधर्म के सन्दर्भ उपस्थित होते थे वहाँ अब प्रतिमास एवं प्रतिपक्ष में सम्पन्न होने वाले यज्ञादि के समारोह उसी प्रकार मनाये जाने लगे, और देश का कोई कोना नहीं बचा, जहाँ राजा वृषदर्भ के दान और यज्ञनिष्ठा की चर्चा न पहुँची हो।

यद्यपि राजा वृषदर्भ ने अपने दान के सम्बन्ध में यह नियम घोषित कर दिया था कि उनके यहाँ से सुवर्ण और रजत-मुद्रा एवं इन्हीं के बने पात्रादि के सिवा कोई अन्य वस्तु दान में नहीं दी जायगी, किन्तु कभी-कभी ऐसे भी अवसर उपस्थित हो जाते थे, जब अन्न-वस्त्र एवं गौ, अश्वादि पशुओं की याचना लेकर भी कई आर्त्त याचक उनके दरबार में पहुँच जाते थे और सुवर्ण-रजतादि की उपेक्षा कर इन्हीं वस्तुओं की प्राप्ति के लिए आग्रह कर बैठते थे। राजा को यह प्रसङ्ग बहुत बुरा लगता था। कुछ दिनों तक तो वह ऐसे याचकों को समझा-बुझा कर सहमत कर लेता था और उन्हें सुवर्ण एवं रजत की मुद्राएँ देकर वापस जाने के लिए मना लेता था किन्तु कुछ दिनों बाद इस उदारता से अपनी परेशानी में कमी न होते देखकर उसने यह नियम बना दिया कि आज से किसी भी याचक को सुवर्ण-रजतादि छोड़कर अन्य वस्तुएँ माँगने पर शारीरिक दण्ड दिया जायगा। राजा के इस कठोर नियम की घोषणा उनके राज्य भर में कर दी गई और राजपुरुषों को यह अधिकार दे दिया गया कि वह याचकों को राजा के सम्मुख उपस्थित करने के पूर्व इस बात की भलीभाँति जाँच कर

लें कि उसे सुवर्ण रजतादि के सिवा कोई अन्य चीज तो नहीं चाहिए, जिससे कभी किसी याचक को दण्ड देने जैसे अप्रिय प्रसङ्ग उपस्थित न हो सकें।

राजा के इस कठोर नियम की घोषणा के बाद उसकी परेशानियाँ सचमुच दूर हो गईं, और अब केवल सुवर्ण-रजत के प्रार्थी ही उसके सम्मुख उपस्थित किये जाने लगे। जब कभी इतर वस्तुओं के प्रार्थी-जन राज-दरबार में उपस्थित होते तो इस कार्य के लिए नियुक्त राजपुरुष उन्हें समझा-बुझा कर वापस कर देते और राजा को इसका पता भी न लगने देते। इस प्रकार राजा वृषदर्भ का यज्ञ और दान का अबाध-क्रम बहुत वर्षों तक चलता रहा और उसमें कोई व्यतिक्रम उपस्थित नहीं हुआ।

राजा वृषदर्भ का सबसे बढ़कर प्रतिद्वन्द्वी एक दूसरा राजा भी उस समय उसके पड़ोसी देश पर शासन कर रहा था। उसका नाम था सेदुक। राजा वृषदर्भ की उज्ज्वल कीर्ति और प्रभाव की चर्चा से वह बहुत जलता रहता था क्योंकि अपनी ओर से दान और धर्म की सत्क्रियाओं में वह कभी पीछे नहीं रहता था। प्रजा वर्ग के प्रति उसकी भी वैसी ही हित-चिन्ता रहती थी जैसी राजा वृषदर्भ की थी और वह भी उनकी ही भाँति प्रत्येक पक्ष में उत्तम कोटि के यज्ञों का आयोजन करता था, जिसमें ब्राह्मणों और दीन-दुःखियों को विविध प्रकार की वस्तुएँ दान की जाती थीं। सुवर्ण, रजत, मणि, मुक्ता, अन्न, वस्त्र, गौ, अश्व, हाथी, रथ—कोई भी वस्तु उसके लिए अदेय नहीं होती थी और विशेषता यह भी थी कि जहाँ राजा वृषदर्भ ने केवल सुवर्ण और रजत के दान की प्रतिज्ञा की थी वहीं राजा सेदुक की प्रतिज्ञा यह थी कि उनके यहाँ से कभी कोई याचक निराश होकर वापस नहीं लौट सकेगा। धरती पर उपलब्ध सभी वस्तुएँ देने के लिए वह सदैव तत्पर रहता था।

किन्तु इस अप्रतिम दानशीलता और अटूट यज्ञ-निष्ठा के रहते हुए भी राजा सेदुक को वह प्रशंसा और ख्याति नहीं प्राप्त हुई, जो राजा वृषदर्भ को अनायास ही प्राप्त थी। धरती के किसी भी अंचल में राजा

वृषदर्भ की चर्चा होती थी जब कि राजा सेदुक का उसके राज्य में भी यथेष्ट सम्मान नहीं होता था। इसका कारण यही था कि सामान्य जनता में यह धारणा बद्धमूल हो गई थी कि राजा सेदुक अपनी कृत्रिम दानशीलता और यज्ञप्रियता के प्रदर्शन द्वारा राजा वृषदर्भ की उज्ज्वल कीर्ति को प्राप्त करने का दुष्प्रयास करता है। कहाँ राजा वृषदर्भ की निश्छल और निर्व्याज दान-यज्ञ निष्ठा और कहाँ सेदुक की स्पर्द्धा और द्वेष से दहकती हुई कृत्रिम यशोलिप्सा। सेदुक सौ जन्म में भी वृषदर्भ की बराबरी करने योग्य नहीं है क्योंकि उसका बाल्यकाल क्रूरता और अनुपकार की घटनाओं से बोझिल है। राजा वृषदर्भ की सहज करुणा, उदारता और पर-दुःखकारता उसमें नहीं आ सकती। वह दूसरों को दिखाने के लिए यज्ञ और दान करता है। राज्य की जनता में सेदुक के प्रति यही धारणा फैली हुई थी। राजा सेदुक को अपने सम्बन्ध में राज्य की जनता में फैली हुई इस अपचर्चा का ज्ञान न हो—ऐसी बात नहीं थी। किन्तु वह वृषदर्भ को पराजित और लांछित करने के लिए कुछ भी करने को तैयार था। दान-यज्ञादि के पुण्य प्रसङ्गों के बीच में भी वह अपनी ईर्ष्या से क्षण भर के लिए भी मुक्ति नहीं प्राप्त कर पाता था।

संयोगात् इसी बीच एक ऐसी घटना हुई, जिससे सेदुक को परम प्रसन्नता हुई। उसके यहाँ किसी यज्ञ का समारोह था, जिसे निर्विघ्न सम्पन्न करके उसने दान-दक्षिणा की क्रियाएँ भी सम्पन्न कर ली थीं। राजकोष एकदम रिक्त हो चुका था और राजा सेदुक अपने खाने-पीने के पात्रादि को भी इस दान में दे चुका था कि इसके कुछ ही दिनों बाद एक बैखानस ब्राह्मण उसके दरबार में आया और उसने राजा से भेंट कर आशीर्वाद-पूर्वक प्रार्थना की—

'महाराज ! मुझे गुरु-दक्षिणा के लिए एक सहस्र श्वेत घोड़े चाहिए, जिनके लिए मैं बहुत दूर से आपका नाम और यश सुनकर आया हूँ। मुझे मार्ग भर में ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं मिला, जिसने आपके दान-यज्ञादि की प्रशंसा करते हुए मुझे सफल मनोरथ होने का विश्वास न

दिलाया हो। मैं बड़ी आशा और विश्वास लेकर आया हूँ राजन्।'

ब्राह्मण की विनीत और मधुर याचना सुनकर राजा सेदुक अवसन्न हो गया। एक सहस्र श्वेत अश्व तो दूर वह इस समय दस-पाँच अश्व देने में भी असमर्थ था। कुछ क्षण विचार कर उसने करबद्ध निवेदन किया—'विप्रदेव! इस समय तो मैं रिक्त-हस्त हूँ, किन्तु यदि आप कुछ दिनों तक प्रतीक्षा कर सकें तो मैं अवश्य आपको एक सहस्र श्वेत अश्वों के देने का प्रबन्ध कर सकूँगा।'

ब्राह्मण देवता के लिए कुछ दिनों तक रुककर प्रतीक्षा करना असम्भव था क्योंकि वह यथाशीघ्र गुरुदक्षिणा चुकाकर अपने गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने को उत्सुक थे। राजा सेदुक की असमर्थता का उन्हें पहले ही से कुछ अनुमान भी हो चुका था, अतः बोले—

'राजन्! मेरे लिए आपके यहाँ रुककर प्रतीक्षा करना कठिन है, अतः कोई दूसरा ही उपाय बताइए, जिससे मेरा कार्य शीघ्र पूरा हो सके।'

राजा सेदुक के मस्तिष्क में बिजली की रेखा-सी दौड़ गई। वृषदर्भ से बदला चुकाने का यह अनुपम अवसर उसके सामने अनायास ही उपस्थित था। उसने तत्क्षण मुस्कराते हुए कहा—'विप्रवर! आप तुरन्त राजा वृषदर्भ के पास चले जाइये और उनसे कहिये, वे आपको अभीष्ट वस्तु तत्क्षण दे सकते हैं। किन्तु शर्त यही है कि आप स्वयं राजा के सम्मुख जाकर अश्वों की याचना करें। राजपुरुषों और मन्त्रियों से माँगने पर आपको सफलता नही मिलेगी, क्योंकि वे तो इधर उधर का बहाना करके अपना पिण्ड छुड़ा लेंगे और आपको एक सहस्र श्वेत अश्वों की खोज में दर-दर की ठोकरें खानी पड़ेगी या बहुत समय तक प्रतीक्षा करनी होगी।'

ब्राह्मण के मन में राजा सेदुक की बात बैठ गई। वह तत्काल राजा वृषदर्भ की राजधानी की ओर चल पड़ा और कुछ ही दिनों के भीतर राजा वृषदर्भ की राज्य-सभा के द्वार पर पहुँचकर राजा से तत्काल मिलने की तीव्र इच्छा प्रकट की। दानादि सत्कर्मों के लिए नियुक्त राजपुरुषों ने

ब्राह्मण से बहुत प्रकार से अनुरोध किया कि वह राजा से मिलने का अभिप्राय यदि उन्हें ही बता दें तो वे उसे सफल मनोरथ कर सकते हैं। किन्तु सेदुक की प्रेरणा से ब्राह्मण ने राजपुरुषों पर अपना कोई मन्तव्य प्रकट नहीं किया और बार-बार राजा से स्वयं मिलकर बात करने की उत्सुकता प्रकट की।

निरुपाय राजपुरुषों ने दिन भर के राजकार्य से निवृत्त राजा वृषदर्भ से जब उक्त ब्राह्मण के दुराग्रह की चर्चा करते हुए उनसे उससे इसी समय मिलने की प्रार्थना की तो राजा ने तुरन्त ही ब्राह्मण के समीप पहुँचकर उसकी इच्छा जानने का विचार प्रकट किया। अपने कुलगुरु, पुरोहित, मन्त्रियों तथा पारिषदों के संग वह तुरन्त उक्त ब्राह्मण के सम्मुख आकर खड़े हो गये और सादर प्रणाम-निवेदन के अनन्तर विनय भरे स्वर में कहा—

'विप्रर्षे ! मैं जानना चाहता हूँ कि आपने किस प्रयोजन की सिद्धि के लिए यह यात्रा-कष्ट उठाया है। यदि मैं आपको सफल मनोरथ कर सकूँ तो यह मेरे लिए परम सौभाग्य की बात होगी।'

ब्राह्मण देवता बोले—'राजन् ! मुझे अपनी गुरु-दक्षिणा चुकाने के लिए एक सहस्र श्वेत अश्वों की आवश्यकता है, और मैं जानता हूँ कि संसार भर में केवल आपही ऐसे राजा हैं, जो हमारे मनोरथ को सफल कर सकते हैं। मैं इस पृथ्वी के अनेक राजाओं के समीप से निराश होकर लौट चुका हूँ। मुझे विश्वास है कि आप मेरी याचना पूर्ण करेंगे।'

ब्राह्मण की यह अप्रत्याशित वाणी सुनकर दिन भर के थके-माँदे राजा वृषदर्भ क्रोध से भर गये। उसकी भृकुटी टेढ़ी हो गई, नेत्रों से अंगारे बरसने लगे और नथुनों से आहत सर्प की भाँति फूत्कार करने लगे। अपने मन्त्रिवर्ग एवं पारिषदों की ओर क्रोध से देखकर उन्होंने क्षुब्ध स्वर में कहा—

'इस ब्राह्मणाधम ने आज मेरी प्रतिज्ञा को जानते हुए भी जो यह मेरा अपमान किया है, उसका प्रतीकार यही है कि इसे अभी सौ कोड़े

लगाये जायँ । यद्यपि ब्राह्मण होने के नाते यह अदण्डय है तथापि मैं अपनी प्रतिज्ञा को मिथ्या नहीं कर सकता। मेरा जप, तप, धन-सम्पदा और परलोक भले ही बिगड़ जाय किन्तु मैं अपनी प्रतिज्ञा को स्वयं तोड़ने में असमर्थ हूँ।'

ब्राह्मण सकपका गया, वह समझ भी नहीं सका कि यह अकाण्ड-ताण्डव कैसे घटित हो गया। याचना करने पर उसकी पूर्ति से भले ही इनकार कर दिया जाय, किन्तु याचक को सौ कोड़ों का दण्ड लगाना कहाँ की नीति है। वह कुछ कहने ही जा रहा था कि कृतान्त के समान राजा वृषदर्भ ने अपने दण्ड-नायक के हाथ से कोड़ा लेकर ब्राह्मण को स्वयं पीटना शुरू कर दिया। मन्त्रिवर्ग एवं पारिषद् अवाक् खड़े रह गये और किमी में यह साहस नहीं हुआ कि उस क्रूर राजदण्ड से उस निहत्थे और शान्त ब्राह्मण की रक्षा की जा सके।

दस-बीस कोड़ों के लगते ही ब्राह्मण धरती पर गिर पड़ा और बेहोश हो गया। फिर तो ब्रह्महत्या के भय से आतंकित राजा वृषदर्भ का हाथ अपने आप रुक गया। उस क्षण वह स्वयं यह समझ भी नहीं सके कि आगे क्या किया जाय ? इधर कुछ क्षण बीतते ही ब्राह्मण को जब होश आया तो वह राजा की इस क्रूरता पर उसे शाप देने के लिए उद्यत हो गया और बोला—

'नृपाधम ! संसार में ऐसा क्रूर विधान कहीं नहीं होगा कि याचना करने पर ब्राह्मण को कोड़े से पीटा जाय। निश्चय ही तेरा काल समीप आ गया है, जो तेरी बुद्धि नष्ट हो गई है। यदि तू एक सहस्र श्वेत अश्व देने से इनकार कर देता तो मैं अन्यत्र जाकर अपनी गुरु-दक्षिणा का प्रबन्ध करता, किन्तु अब तो मैं इस योग्य भी नहीं रह गया हूँ कि कहीं आ-जा भी सकूँ। अत: मैं तुम्हें शाप देता हूँ कि तू...।'

ब्राह्मण के मुख से शाप की यह कठोर वाणी सुनते ही मन्त्रिवर्ग एवं पारिषद् चीत्कार कर उठे और स्वयं राजा वृषदर्भ ब्राह्मण के चरणों पर गिरकर अत्यन्त दयनीय स्वर में बोले—

'तपोधन ! मैं अपनी प्रतिज्ञा से विवश था। समूचे संसार में आपकी तरह बहुत कम ब्राह्मण होंगे, जो यह न जानते हों कि हमारे यहाँ से केवल सुवर्ण एवं रजत का ही दान मिलता है। आपने यदि माँगा होता तो मैं सहस्र ही क्या दो सहस्र श्वेत अश्वों के मूल्य का सुवर्ण आप को दे देता, किन्तु आपने जान-बूझकर मेरी प्रतिज्ञा तोड़ने का जो अपराध किया है, एक राजा के नाते उसके लिए घोषित दण्ड दिये बिना मैं कैसे रुक सकता था। आप ही बताइए अपनी प्रतिज्ञा पर अटल राजा को क्या आप शाप का पात्र समझते हैं। दूसरे यह भी विचारणीय है कि मेरे पास एक सहस्र तो दूर सौ श्वेत अश्व भी न मौजूद होंगे। तब फिर ऐसी असम्भव वस्तु न दे सकने पर आपको मुझे शाप देना उचित नहीं है। मैं विवश था, विप्रवर ! अतः मेरा अपराध क्षमा हो। मुझे व्यर्थ में शाप देकर आप अपना तप खण्डित न करें।'

ब्राह्मण चुप था, क्योंकि बात सच थी। उसे राजा वृषदर्भ की इस प्रतिज्ञा का ज्ञान बहुत पहले से ही था कि उसके यहाँ से सुवर्ण-रजत के सिवा कोई अन्य वस्तु माँगने वाला दण्ड का पात्र बनता है। किन्तु राजा सेदुक के माया-जाल में फँसने के कारण उसे इसका ध्यान नहीं रह गया था। राजा वृषदर्भ के इस निवेदन से उसका भ्रम दूर हो गया और वह थोड़ी देर चुप रह कर बोला—

—'राजन् ! आपकी बात सत्य है, मुझे भी आपकी प्रतिज्ञा की जानकारी पहले से थी, किन्तु राजा सेदुक के प्रोत्साहन और प्रेरणा पर मैंने यह साहस किया। अतः जो कुछ हुआ उसे आप भूल जायँ और मैं भी भूल जाता हूँ।'

राजा वृषदर्भ बोले—'विप्रवर ! अब तो जैसे भी होगा मैं आपको इस याचना की पूर्ति करूँगा ही। अतः आप कृपाकर तब तक हमारे अतिथि-भवन में अवस्थान करें, जब तक मैं एक सहस्र अश्वों का प्रबन्ध न कर लूँ। मेरे सहज विद्वेषी सेदुक ने मुझसे अच्छा बदला चुकाया किन्तु शीघ्र ही उसे भी अपने कर्मों का दण्ड मिलकर रहेगा।'

उस दिन उक्त ब्राह्मण राजा वृषदर्भ का अतिथि रहा, और राजा ने उस दिन की अपनी पूरी आय उसे दे दी, जो एक सहस्र श्वेत अश्वों के मूल्य से कहीं अधिक थी। राजा वृषदर्भ की आज्ञा से उसके कर्मचारियों ने देश के कोने-कोने से उतने श्वेत अश्व मँगाये और ब्राह्मण को दे दिये। इसके अतिरिक्त जो कुछ धन शेष बचा था वह भी उसी को अपने गृहस्थाश्रम में सुखमय जीवन बिताने के लिए दान कर दिया गया। इससे ब्राह्मण बहुत प्रसन्न हुआ और उसने राजा वृषदर्भ को यह आशीस दिया कि—जब तक इस धरती पर सूर्य और चन्द्रमा रहेंगे तब तक उसका निर्मल यश समाप्त नहीं होगा, और साथ ही उसने राजा वृषदर्भ के विद्वेषी राजा सेदुक को यह शाप दिया कि—उसके समस्त पुण्य शीघ्र ही नष्ट हो जायँगे और वह अपने राज-पाट से भी वंचित हो जायगा क्योंकि उसी के कुटिल परामर्श से कार्य करने पर मुझे यह असह्य शारीरिक यातना भोगनी पड़ी थी।

इधर दक्षिणा समेत ब्राह्मण के राजा वृषदर्भ की राजधानी से सकुशल वापस चले जाने के थोड़े ही दिनों बाद यशस्वी राजा वृषदर्भ ने अपने प्रतिस्पर्धी सेदुक पर कठोर आक्रमण कर दिया और थोड़े ही प्रयत्नों के बाद उसका समूलोच्छेद कर उसके राज्य को भी अपने अधीन कर लिया। वैखानस ब्राह्मण के शाप के कारण उसके वंश में कोई नहीं बच सका, सब के सब राजा वृषदर्भ की क्रोधाग्नि में भस्म हो गये।

विभावसु और सुप्रतीक का संघर्ष

विभावसु बड़े तेजस्वी और सदैव जप-तप में जीवन बिताने वाले एक ऋषि थे। किन्तु उनमें अपार क्रोध था। तपस्या और स्वाध्याय में लगे रहने पर भी जब कभी किसी प्रसंग पर उन्हें क्रोध आता था तो वे यह भूल जाते थे कि उनकी तपस्या और साधना का भी कोई मूल्य है। उनके क्रोधी स्वभाव का पता उनके सभी परिचितों और मित्रों को था, और सब लोग उनसे सँभलकर रहते भी थे, किन्तु परिवार में सदैव बचकर रहने पर भी कभी-कभी जब कोई ऐसी घटना आ पड़ती थी, जिसमें विभावसु के क्षुब्ध होने का अवसर आता था तो उनके परिवार के लोग चुप्पी साध लेते थे और उनका क्रोध दूसरे ही क्षण में दूर होकर पश्चात्ताप का रूप धारण कर लेता था। विभावसु को स्वयं अपनी यह कमजोरी ज्ञात थी और उसे दूर करने का भी वे प्रयास बराबर करते थे, किन्तु अभी उनकी अवस्था थोड़ी थी। अनुभव का क्षेत्र बहुत सीमित था। अतः अपनी प्रखर प्रतिभा और तेजस्विता को सँभाल पाना उनके लिए कठिन हो जाता था।

किन्तु एक क्रोध को छोड़कर विभावसु में अन्य सारे सद्गुण थे। दिन-रात दीन-दुःखियों की सेवा-शुश्रूषा, सहायता और सहानुभूति में उन्हें रस मिलता था। छोटे-छोटे जीवों, पशु-पक्षियों और कीट-पतंगों के प्रति भी वे अपने ही समान उदार दृष्टि रखते थे। अपने छोटे से आश्रम में उन्होंने कुछ पेड़-पौधे लगा रखे थे, जिनकी सिंचाई, गुड़ाई और देखभाल कर लेने के बाद उन्हें जो भी समय मिलता था वह तपस्या और साधना को छोड़ व्यर्थ नहीं गँवाते थे। उन्हें आलस्य छू भी नहीं गया था और अनावश्यक वस्तुओं के संग्रह करने के भी वे विरोधी थे। अपने आश्रम में वे उतनी ही वस्तुएँ रखना चाहते थे जिनके बिना गृहस्थी ठीक से नहीं चल सकती थी। किन्तु ऐशो-आराम, साज-श्रृंगार और धन-सम्पदा

के वे सहज विरोधी थे। वे कहा करते थे कि—'ब्राह्मण को धन-सम्पदा संचित करना पाप है। जिस दिन से वह धन-सम्पदा के संग्रह में लग जायगा उसी दिन से उसकी विद्या, साधना और तेजस्विता नष्ट हो जायगी और ब्राह्मण का संग्रही होना सम्पूर्ण समाज के लिए बड़ा अहित-कर होगा।'

विभावसु के छोटे भाई सुप्रतीक थे, जो विद्या, विनय, सदाचार और तपस्या में विभावसु के समान होते हुए भी स्वभाव के लोभी थे। वे अपनी गृहस्थी को आदर्श बनाने के लिए सभी साधनों एवं सम्पदाओं से सुसज्जित रखना चाहते थे और अपने बड़े भाई के अपरिग्रही स्वभाव को मन ही मन नापसन्द करते थे। धीरे-धीरे सुप्रतीक का लोभ अवस्था के साथ बढ़ता गया और उसके कारण उनके सभी सद्गुण विलुप्त होने लगे क्योंकि लोभ दुर्गुणों का परम मित्र और सद्गुणों का सहज शत्रु है।

सुप्रतीक के लोभी और संग्रही स्वभाव से विभावसु को बड़ी घृणा थी और वे समय-समय पर उन्हें सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न भी करते थे किन्तु सुप्रतीक को इसकी चिन्ता नहीं थी। वह दिन-रात अपनी गृहस्थी के कार्यों में लगा रहता। धन-सम्पत्ति अर्जित करता। उसकी वृद्धि का उपाय सोचता और दान-दक्षिणा के लिए यजमानों को यज्ञ कराने का उपदेश किया करता। स्वयं वह भूलकर भी किसी को कुछ नहीं देता था और जब कभी विभावसु उसके द्वारा अर्जित सम्पदा में से कुछ दान कर देते थे तो वह मन ही मन बड़ा अप्रसन्न होता था। वह नहीं चाहता था कि उसके परिश्रम द्वारा अर्जित सम्पदा को विभावसु यों ही किसी को दे दें; किन्तु विभावसु के क्रोधी स्वभाव के कारण वह प्रकट में कुछ नहीं कह पाता था।

बहुत दिनों तक विभावसु ने जब देखा कि सुप्रतीक को समझाने बुझाने का कोई परिणाम नहीं हो रहा है और वह दिन-रात धन-सम्पदा अर्जित करने की चिन्ता में ही बुरी तरह लग गया है; उसका स्वाध्याय और जप-तप छूट चुका है; दीन-दया और परोपकार के प्रति उसे जैसे

ईर्ष्या हो गई है, और छल-कपट, झूठ-प्रपंच में उसे रस मिलने लगा है तो वह चिन्तित हो गये और उन्होंने सुप्रतीक को ठीक रास्ते पर लगाने के लिए एक दूसरा उपाय निश्चित किया।

एक बार सुप्रतीक अपने किसी यजमान के घर यज्ञ कराने गये थे कि इसी बीच विभावसु ने घर की सारी धन-सम्पत्ति दूसरों को दान में दे दी। यहाँ तक कि गृहस्थी के काम में प्रति दिन आने वाली वस्तुएँ भी उन्होंने नहीं छोड़ी। जब यजमान के घर से प्रचुर दान-दक्षिणा लेकर सुप्रतीक प्रसन्न मन से अपने आश्रम में वापस आये तो अपनी प्रिय संगृहीत वस्तुओं से रहित छूँछे आश्रम को देखकर वह भौचक्का रह गये। उनकी गृहिणी ने विभावसु द्वारा उन वस्तुओं के दान किये जाने की जब चर्चा की तो वह अमर्ष से भर उठे और विभावसु के दुर्घर्ष क्रोध की चिन्ता छोड़ कर अपनी गृहस्थी को उनसे अलग कराने के लिए तुल गये।

सुप्रतीक की पत्नी ने उन्हें बहुतेरा समझाया किन्तु वह इतने चिन्तित और दुखी थे कि उन्होंने विभावसु के अप्रसन्न और क्षुब्ध होने की तनिक भी चिन्ता नहीं की और घर वापस आने के कुछेक क्षण बाद ही विभावसु के पास अपने रक्त-नेत्रों से आँसू बहाते हुए पहुँच गये। उस समय विभावसु ध्यानावस्थित थे। पद्मासन पर विराजमान उनके दीर्घायत नेत्रों की पलकें मुँदी हुई थीं और सारा शरीर इतना निश्चल, निष्क्रिय और विभासमान था कि सुप्रतीक को उन्हें छेड़ने की हिम्मत नहीं पड़ी। वह बड़ी देर तक विभावसु के समीप चुपचाप आँसू बहाते हुए खड़े रहे; किन्तु उनके दुर्घर्ष क्रोध के भय से कुछ बोल नहीं सके और जब बड़ी देर हो जाने के बाद भी विभावसु का ध्यान भंग नहीं हुआ तो शनैः-शनैः सुप्रतीक का क्षोभ भी आँसुओं के वेग के साथ बाहर निकल जाने पर कुछ हल्का हो गया। वह चुपचाप वापस लौट आये और पत्नी के सदुपदेशों को स्वीकार कर उस दिन विभावसु से अपनी गृहस्थी के बँटवारे की कोई चर्चा नहीं की।

किन्तु विभावसु को सुप्रतीक के इरादों का पता चल गया था। वह

भी ऐसे अवसर की ताक में ही थे कि पुनः एक दिन किसी धनी यजमान के घर यज्ञ कराने के लिए जब सुप्रतीक आश्रम से बाहर चले गए तो विभावसु ने पुनः आश्रम की सारी धन-सम्पदा दूसरों को दे दी। इस बार आश्रम में वापस आने पर फिर जब सुप्रतीक को अपने भाई की करतूतों का पता लगा तो वह अमर्ष और क्षोभ से विचलित होकर क्रुद्ध सर्प की भाँति विभावसु की ओर दौड़ पड़ा। विभावसु उस समय अपने लगाये हुए आम के वृक्षों से पके फल एकत्र कर आश्रम के बच्चों में बाँट रहे थे। सुप्रतीक को आते देखकर उन्होंने दृष्टि दूसरी ओर कर ली और ऐसा भाव प्रकट किया मानों अपनी ओर आते हुए उन्होंने सुप्रतीक को देखा ही न हो।

पड़ोसी बच्चों को अत्यन्त मीठे आम के पके फलों को वहीं बैठकर चखने का आग्रह करते हुए विभावसु को बड़ी देर तक सुप्रतीक की ओर मुँह फेरने का अवसर नहीं लग सका। किन्तु इधर सुप्रतीक का एक-एक क्षण बड़ी कठिनाई से बीत रहा था। उनके माथे पर पसीने और परेशानी की बूँदें छिटक रही थीं और आँखों से अंगारे बरस रहे थे। वह आज विभावसु से निपटने की पूरी तैयारी करके आये थे। किन्तु जब थोड़ा समय बीत गया और क्रोध का प्रबल वेग कुछ रुक गया तो अत्यन्त क्रोधी विभावसु से झगड़ा या विवाद बढ़ाने का उनका साहस टूट गया और बड़ी देर बाद जब विभावसु ने अन्यमनस्क की भाँति उनकी ओर सतेज नेत्रों से देखकर इस प्रकार की परेशानी में वहाँ खड़े होने का कारण पूछा तो वह लड़खड़ाती वाणी में केवल इतना ही कह सके—

—'भाई ! आप कृपाकर हमें अपनी गृहस्थी को अलग करने की आज्ञा दें, क्योंकि मेरा और आपका मार्ग भिन्न-भिन्न है। मैं आपके साथ गृहस्थी चलाने में कठिनाई का अनुभव करता हूँ।'

विभावसु की चेष्टा रुक्ष हो गई। उन्होंने सुप्रतीक को ऐसी उपेक्षा से देखा मानों वह उनकी सत्क्रियाओं का कोई विध्वंसक हो। बोले—

—'मूर्ख ! क्या तुझे यह भी बतलाना पड़ेगा कि धन का बँटवारा हो

जाने पर हमारे पारस्परिक सद्भाव और प्रेम भी नष्ट हो जायँगे। तुम्हें अनेक बार बता चुका हूँ कि धन ही सभी अनर्थों की जड़ है। जिस परिवार में धन को बाँटकर लोग अलग-अलग हो जाते हैं, वहाँ कुछ दिनों के बाद ही भयंकर फूट पड़ जाती है। पुराने शत्रुओं की बन आती है और वे अपने बैर का बदला चुकाने के लिए भाई-भाई में विवाद और संघर्ष पैदा करके प्रसन्न होते हैं। अतः मैं नहीं चाहता कि हमारे बीच में ऐसा हो और इसीलिए मैं गृहस्थी में आवश्यकता से अधिक धन-सम्पत्ति के अर्जन का विरोधी हूँ। जब धन ही नहीं रहेगा तो विवाद और संघर्ष कैसे उत्पन्न होगा।'

सुप्रतीक सहमते हुए बोले—'किन्तु भाई ! मैं आपके इस कथन से सहमत नहीं हूँ। या तो हम गृहस्थी के झमेले में न पड़ें, विरक्त होकर संन्यास ले लें और यदि गृहस्थी रखना चाहें तो उसमें कोई अभाव न रहने दें। क्योंकि गृहस्थी का अभाव मानव-जीवन का एक बड़ा काँटा है। और ऐसे जीवन को मैं अच्छा नहीं समझता, जिसमें परिवार के सुख-साधनों की कमी हो। मैं दिन-रात परिश्रम करके जो कुछ संचित करता हूँ, उसे आप व्यर्थ ही अन्य लोगों को दे डालते हैं, जिससे मुझे कष्ट होता है। अतः आप कृपाकर हमें अपनी गृहस्थी अलग बसाने की आज्ञा दें और जो कुछ हमारा भाग हो उसे अलग कर दें।'

विभावसु को सुप्रतीक के इस मनोभाव का पहले से पता न हो—ऐसी बात नहीं थी, किन्तु वे इतना नहीं समझते थे कि सुप्रतीक इस प्रकार से उनकी अवहेलना करके अपनी गृहस्थी को अलग बसाने की माँग करेगा। वह अपने स्वाभाविक किन्तु क्षणिक आवेश के प्रवाह में बह गये और अमर्ष से भरी वाणी में बोले—

'नीच सुप्रतीक ! शास्त्रों में ऐसी आज्ञा है कि बड़ा भाई पिता के समान अपने छोटे भाई की रक्षा करे और उसे सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा दे और छोटा भाई पुत्र के समान अपने बड़े भाई की आज्ञा का उल्लंघन न करे। मेरी आज्ञा है कि तू हमसे अलग होने की माँग न कर,

और धन-सम्पत्ति के अर्जन की चिन्ता छोड़कर जो कुछ सुलभ है, उसी से सन्तोष और शान्ति का जीवन बिता। ब्राह्मण जाति के लिए संग्रह सदैव दुःखदायी होता है। संसार में ऐसी एक भी गृहस्थी नहीं है, जिसमें कोई न कोई अभाव न हो। ऐहिक जीवन के सुख-साधनों को एकत्र करने की चिन्ता में जो तू दिन-रात लगा रहता है, वह मुझे पसन्द नहीं है। मेरी आज्ञा है कि तू भविष्य में जो कुछ भी यज्ञ-यागादि से दक्षिणा स्वरूप प्राप्त करे उसमें से बहुत थोड़ा अपनी गृहस्थी के लिए रखकर शेष स्वयं दान कर दिया कर, जिससे मुझे किसी को देना न पड़े और तू भी सुख लाभ कर। दान करने के समान इस संसार में कोई दूसरा सुखदायी अवसर नहीं है मूर्ख ! और ब्राह्मण के लिए तो यह परम धर्म है।'

सुप्रतीक को विभावसु की बातों में कुछ भी रस नहीं मिला। वह ज्यों के त्यों खड़े ही रह गए और कुछ क्षण चुप रहकर धीर-गंभीर स्वर में फिर बोले। इस बार उनकी वाणी में अभिमान और रुक्षता भरी थी और कहने के ढंग में भी अविनय झलक रहा था। उन्होंने कहा—

'किन्तु भाई ! कुछ भी हो, मैं आपके साथ अब एक दिन भी नहीं रह सकता। मनुष्य को अपने किये हुए कर्मों का फल स्वयं भोगना पड़ता है। आप जो कुछ उचित समझें, उसका आचरण स्वयं करें और मुझे भी अपनी दृष्टि में उचित कार्यों को करने का पूर्ण अधिकार है। मैं अब वयस्क हो चुका हूँ, अपनी गृहस्थी चलाने की मुझमें क्षमता है। अतः मेरे कल्याण की आप व्यर्थ चिन्ता न करें और मेरा भाग मुझे देकर अलग हो जाने दें।'

सुप्रतीक की इस वाणी ने विभावसु को विचलित कर दिया। उनका सहज क्रोध इतना प्रदीप्त हो उठा कि वह अपने को सँभाल नहीं सके और साश्रुनयन बोले—

'सुप्रतीक ! तू कुलांगार है। ब्राह्मणोचित विद्या एवं संस्कार होने पर भी तुझमें संतोष और शान्ति नहीं है। तू समूचे संसार की सम्पदा को अपने अधीन करने की उतावली में है। तेरी दृष्टि हाथियों की तरह अत्यन्त संकुचित है। और तू स्वार्थ से इतना उन्मत्त और अन्धा हो गया है कि

शास्त्रों और गुरुजनों की आज्ञा का अंकुश भी तुझे वश में नहीं कर पा रहा है, अतः निश्चित है कि तुम्हारा विनाश समीप है। जा, मैं तुझे शाप देता हूँ कि तेरा अगला जन्म हाथी का हो क्योंकि तेरे जैसे अज्ञानान्ध और अविवेक-मद से उन्मत्त के लिए यही उचित दण्ड है।'

सुप्रतीक कांप उठे। दुर्निवार शाप के भय से उनकी चेतना विलुप्त होने लगी और भाई से बदला चुकाने के लिए वह भी पागल की तरह विभावसु के ऊपर टूट पड़े। थोड़ी देर तक दोनों भाइयों में गुत्थम-गुत्था और मार-पीट होती रही। किन्तु जब सुप्रतीक ने देखा कि इस प्रकार उसके शाप का बदला नहीं चुकेगा तो वह भी अंगारों की तरह दहकती हुई वाणी में बोले—

'तपस्या के मद मे उन्मत्त कुबंधु ! तू क्रोध और ईर्ष्या से भरा है। शास्त्रों और वेदों की दुहाई देकर तू व्यर्थ ही औरों को ठगने का प्रयत्न करता है। मुझे शाप देकर तू अछूता नहीं बचेगा। मैं भी तुझे शाप देता हूँ। यदि मुझमें तनिक भी सुकृत और पूर्वजन्मार्जित पुण्य शेष है तो उसके प्रभाव से मेरी शाप-वाणी भी अव्यर्थ हो। तूने मुझे हाथी की योनि में जन्म लेने का शाप दिया है, अतः मैं भी तुझे कछुवे की योनि में जन्म लेने का शाप देता हूँ।'

× × ×

दोनों सहोदर भाइयों की शापवाणी निष्फल नहीं हुई। अमर्ष की अग्नि में अपने शरीरों को भस्म कर वे दोनों पुनः अपने उसी आश्रम के समीप कछुवे और हाथी की योनि में उत्पन्न हुए। किन्तु धन के मोह में उन्मत्त सुप्रतीक और क्रोध तथा अमर्ष की ज्वाला में दग्ध विभावसु की वैराग्नि इस जन्म में भी यथापूर्व बनी रही। इस योनि में भी उनको पूर्वजन्म की दुर्घटना विस्मृत नहीं हुई थी, अतः जब कभी अवसर लगता था वे एक-दूसरे पर आक्रमण कर देते थे।

इस योनि में विभावसु कछुए के रूप में एक सरोवर में रहता था। जिसमें चतुर्दिक कमलिनियां फैली हुई थीं और सुप्रतीक गजराज की योनि

में समीपवर्ती पर्वत शिखर पर रहता था। प्रति दिन कुछ तो कमलिनियों के मोह से और बहुत अधिक कछुए से बदला चुकाने की ईर्ष्या से सुप्रतीक प्रातःकाल के समय उसी सरोवर के तट पर आ जाता था। जब वह सरोवर के तट पर आता था तो अपने भयंकर चीत्कार से दिशाओं को बहरा बना देता था। उसका भीषण स्वर सुनकर जल के जीव-जन्तु भी भागने लगते थे किन्तु कछुआ तत्काल जल से बाहर निकल कर उसके भयंकर नाद का उत्तर अपने फूत्कारों से देता था। जल की ऊपरी सतह पर अपना शिर निकालकर वह इतने वेग से गजराज की ओर दौड़ता था कि सरोवर की समूची जलराशि और कमलिनियाँ अस्त-व्यस्त हो जाती थी। जल के छीटों से आकाश व्याप्त हो जाता था और उसके फूत्कार से दिशाएँ प्रतिध्वनित हो उठती थी।

लोभ और क्रोध के कारण तिर्यक योनि में पड़े हुए इन दोनों ऋषि-कुमारों को अपने-अपने पूर्वजन्म के जीवन का पूर्णतः स्मरण था। अपनी दुर्गति के कारणों का स्मरण कर वे सदैव एक-दूसरे का प्राण हरण करने के लिए तैयार रहते थे। जब कभी अपने बल के अहंकार से गज-राज सरोवर में घुसकर कछुए को अपनी शुण्डा से पकड़ कर पैर के नीचे दबाने का उपक्रम करता तो वह बड़े वेग से उसकी शुण्डा में ऐसा तीव्र प्रहार करता कि गजराज चीत्कार करते हुए सरोवर से निकल कर बाहर भाग जाता। कभी-कभी समीपवर्ती वृक्षों की मोटी शाखाओं से वह कछुए का काम तमाम करने के लिए आक्रमण करता तो कछुआ तत्काल जल में डूबकर उसके प्रयत्न को निष्फल कर देता।

इस प्रकार बहुत दिनों तक दोनों भाइयों की घात-प्रतिघात की निष्फल चेष्टाएँ चलती रहीं। किन्तु न तो गजराज की कछुए के द्वारा कोई हानि हुई और न गजराज ही कछुए का कुछ बिगाड़ सका। अपने-अपने प्रयत्नों के निष्फल हो जाने से उनके क्रोध और अमर्ष की अग्नि बरा-बर बढ़ती ही गई और धीरे-धीरे जब ऐसी स्थिति आ गई कि उनकी क्रोधाग्नि से समूचा सरोवर और उसके आस-पास के जीव-जन्तु व्याकुल

हो गए तो महर्षि कश्यप की प्रेरणा से पक्षिराज गरुड़ ने उन दोनों भाइयों का उस योनि से उद्धार किया। अपने बलवान पंजों से पकड़ कर वे उन्हें आश्रम से बाहर उठा ले गए और उन्हें मार कर अपना आहार किया।

इस प्रकार लोभ और क्रोध की जलती हुई अग्नि में जन्म-जन्मान्तर तक दग्ध उन दोनों भाइयों का जब करुण अवसान हो गया तो उनके पापों की शांति हो गई और बहुत दिनों तक पार्थिव शरीर के साथ कठोर यातना और दण्ड भोग लेने पर उनके कल्मष भी सदा के लिए धुल गये।

रेणुका और जमदग्नि

महर्षि भृगु के वंशज तथा दुर्दान्त क्षत्रियकर्मा परशुराम के पिता महर्षि जमदग्नि परम तेजस्वी ऋषि थे। शस्त्रों और शास्त्रों—दोनों में उनकी समान गति थी। उनकी साधना और तपस्या के साथ उनका शस्त्राभ्यास भी सदैव चलता रहता था।

एक बार महर्षि जमदग्नि अपनी प्राणोपम प्रियतमा रेणुका के संग धनुर्विद्या का अभ्यास कर रहे थे। वे बारम्बार धनुष पर बाण रखकर उनका संधान करते थे और उनके सम्पूर्ण तेजस्वी वाणों को उनकी पत्नी रेणुका ला-लाकर दिया करती थीं। कुछ देर तक तो थोड़ी दूर तक जाने वाले वाणों का अभ्यास चला। इससे रेणुका को बहुत कष्ट नहीं हुआ किन्तु जब दूर-दूर तक जाने वाले वाणों की बारी आ गई तब रेणुका परिश्रम से श्लथ-विश्लथ होने लगीं।

उधर महर्षि जमदग्नि भी अपने कठोर धनुष की प्रत्यंचा चढ़ाने और वाणों के सन्धान से कम परिश्रान्त नहीं थे, किन्तु अभी वाण की अनेक सन्धान-क्रियाओं का अभ्यास बाकी था और बिना सम्पूर्ण क्रियाओं का अभ्यास समाप्त किये वह उस दिन के कार्यक्रम को बन्द नहीं करना चाहते थे। वसन्त की समाप्ति थी। धीरे-धीरे मध्याह्न हो चला था और अंशुमाली की प्रदीप्त किरणों ने मध्याकाश में पहुँच कर भूतल को सन्तप्त करना शुरू कर दिया था। वायु का वेग शिथिल हो गया था और पशु-पक्षी विह्वल होकर वृक्षों की छाया में विश्राम ढूँढ़ने लगे थे। भूतल से ज्वाला निकलने लगी थी। आकाश ने धरती की नीरवता को आत्मसात कर लिया था।

वाणों की संख्या सीमित होने के कारण जमदग्नि को इनके गायब हो जाने का बड़ा डर था। अतः जब तक रेणुका उन सब को एकत्र न कर लेतीं तब तक वे पुनः शर-सन्धान नहीं करते थे। अब वाण भी दूर तक

फेंके जा रहे थे अतः उनका एकत्र करना सुगम नहीं था। जमदग्नि की भाँति मध्याह्न के रवि को भी रेणुका की इस परेशानी की कोई चिन्ता नहीं थी। बेचारी वाणों के पीछे तीव्र गति से दौड़ पड़ती और जब तक सब न मिल जाते तब तक चिन्तातुर होकर उन्हें ढूँढ़ती रहती।

जमदग्नि सहज क्रोधी थे और उनमें रेणुका के प्रति सहानुभूति का अभाव था—ऐसी बात नहीं थी। सहज क्रोध की भाँति सहज करुणा भी जमदग्नि की संगिनी थी और रेणुका को वह अपने प्राणों से कम नहीं समझते थे किंतु अपनी निष्ठा और प्रतिज्ञा के वे पक्के थे। मध्याह्न हो या अर्धरात्रि, भयंकर शीत हो या अग्निवर्षा—जमदग्नि ने जब कभी किसी बात का निश्चय कर लिया तो उसकी पूर्ति किये बिना उन्हें चैन नहीं पड़ता था। वह देख रहे थे कि रेणुका का शरीर स्वेदकणों से ही नहीं भीग गया है, परिश्रम और परेशानी की अधिकता से वह चूर-चूर हो गई है। उसके पैर डगमगाने लगे हैं और उसके कमल-नेत्रों की आभा मलिन हो गई है। किन्तु यह सब समझते हुए भी जमदग्नि जैसे कुछ भी नहीं समझ रहे थे क्योंकि अभी शर-सन्धान की बहुतेरी क्रियाएँ बाकी थीं।

रेणुका को जमदग्नि की इस प्रकार की सहज क्रूरता और करुणा का अनेक बार सामना करना पड़ता था, अतः वे उनके वाणों की भाँति ही सदैव बिना कुछ कहे-सुने अपने कर्त्तव्य पर चल पड़ती थीं। किन्तु जब धीरे-धीरे वाणों के संग दौड़ते हुए उनकी शारीरिक शक्ति क्षीण हो चली और थके हुए पैरों ने तवे के समान जलते हुए भूतल का स्पर्श करने और शरीर का बोझ ढोने में असमर्थता प्रकट कर दी तो वह वाणों को एकत्र कर एक पेड़ के नीचे कुछ क्षणों के लिए बैठ गईं। उन्होंने देखा कि दोनों पैर के तलुवों में कई फफोले फूट गये हैं और उनके घावों से कुश-कंकड़ों के आघात से रक्त भी निकल रहा है। किन्तु थोड़ी ही देर विश्राम कर रेणुका जमदग्नि के समीप पहुँच गुईं। उस समय पैरों के घाव के कारण वह लँगड़ा रही थीं और प्यास तथा थकान की वेदना से मुरझाया हुआ उनका मुखमण्डल बड़े प्रयास के साथ मुस्कराने की चेष्टा कर रहा था।

उधर जमदग्नि की शस्त्राभ्यास-भूमि भी सुतप्त हो चली थी। शर-संधान की सुविधा के लिए उन्होंने ऐसी भूमि चुनी थी जिस पर किसी वृक्षादि की छाया या अवरोध न हो। रेणुका के बिलम्ब से वापस आने तक वह क्षुब्ध नेत्रों से उसी ओर ताक रहे थे। रेणुका जमदग्नि के मनोभावों को समझ रही थीं किन्तु करती भी क्या ? जमदग्नि के समीप आने पर वह प्रयत्नपूर्वक सीधी चलने लगी थी किन्तु जमदग्नि की आँखों में न तो सहानुभूति की रेखा थी और न क्षमा का भाव था। वह गरज कर बोल पड़े—

'तुम्हें इतना बिलम्ब कहाँ लग जाता है। देख रही हो यहाँ की भूमि ऐसी जल रही है, जिस पर खड़ा होना भी कठिन है। मेरा सिर तप गया है और शरीर जलने लगा है।' रेणुका भयभीत स्वर में मुस्कराने का प्रयत्न करती हुई बीच में ही बोली—'देव ! मेरा भी सिर तप गया है, पैरों में फफोले पड़कर फूट गये हैं, देखिये उनसे रक्त निकल रहा है। सूर्य के प्रचण्ड तेज ने मुझे आगे बढ़ने से रोक दिया था, मैं प्यास के मारे मूर्छित हो रही थी नाथ ! इसी से थोड़ी देर तक एक वृक्ष के नीचे विश्राम करने लगी थी। मेरी इस विवशता को क्षमा करें तपोधन ! क्रोध न करें।'

रेणुका की विनीत वाणी तथा उसके शरीर की यह दुर्दशा देख कर जमदग्नि को ध्यान आया कि जिस सूर्य की प्रचण्ड ज्वाला में मैं तप रहा हूँ उसी में रेणुका भी दौड़ रही है। वह स्त्री है और उसे मुझसे अधिक परिश्रम भी करना पड़ रहा है। अतः वह थोड़ी देर तक चुप रहे और फिर सूर्य की ओर संकेत करते हुए क्षुब्ध स्वर में बोले—

'रेणुके ! जिसने तुझे और मुझे इतना कष्ट पहुँचाया है उस उद्दीप्त किरणों वाले सूर्य को आज ही मैं अपने बाणों से तथा अपनी अस्त्राग्नि के तेज से नीचे गिरा दूँगा। यदि मैं ऐसा न कर सका तो मेरा सारा तपोबल व्यर्थ हो जायगा।'

जमदग्नि का शरीर क्रोध से काँपने लगा। नेत्र रक्त वर्ण के हो गये।

तेजस्वी गौर मुखमण्डल आग में जले हुए ताम्रपात्र के समान झुलस-सा गया। उन्होंने अपना दिव्य धनुष उठाया और उसकी कठोर प्रत्यंचा को खींच कर अनेक बार ऐसी कर्कश ध्वनि की कि गिरि-गह्वर गूँज उठे। दिशाएँ हाहाकार से भर गईं। चराचर पृथ्वी काँप उठी और आकाश धूम्र वर्ण का हो गया। उन्होंने बड़ी फुर्ती से रेणुका के हाथों से बाणों को लेकर कुछ को तूणीर में रख लिया और कुछ को हाथों में रख कर सूर्य की ओर मुख करके मंत्रोच्चारण में निमग्न हो गये। किन्तु उस क्षण भयंकर क्रोध के आवेश में उनके अति अभ्यस्त मन्त्र भी विलुप्त हो रहे थे और बार-बार के स्मरणानुरोध से भी वे प्रसन्न नही हो रहे थे।

इसी बीच परम विनीत-वेशधारी एक ब्राह्मण ने आकर जमदग्नि का ध्यान अपनी ओर खींचा। जमदग्नि को लगा, जैसे उसे उनकी पूरी परिस्थिति ज्ञात हो गई हो। अपनी विवशता पर वह लज्जित हो उठे। उक्त ब्राह्मण ने आने के साथ ही जमदग्नि को जैसे हतप्रभ-सा कर दिया। कुछ क्षण जमदग्नि के सामने खड़े रह कर वह उनकी ओर विनीत भाव से देखता रहा, फिर बोला—

'विप्रवर! सूर्य ने आपका क्या अपकार किया है? वह तो त्रैलोक्य का रक्षक है। वसुधा का जो रस वह अपनी किरणों से खींचता है, वही धरती को वर्षा काल में कई गुने के रूप में प्राप्त होता है। इसी वर्षा से अन्न उत्पन्न होता है जो प्राणिमात्र का उपकारक है। वेद कहते हैं कि अन्न ही प्राण है। यही नहीं भूतल पर जितनी भी ओषधियाँ, वृक्ष, लताएँ, पत्र-पुष्प, घास, लोहा, ताँबा, सुवर्ण, चाँदी, हीरा, मणि आदि साधारण अथवा बहुमूल्य वस्तुएँ हैं, वे सब सूर्य की किरणों से ही उत्पन्न होती हैं विप्र! ये सब बातें तो आप स्वयं जानते हैं। भला ऐसे त्रिभुवन उपकारी सूर्य को आकाश से नीचे गिराकर आप क्या पायेंगे?'

ब्राह्मण की मर्मभरी वाणी ने जमदग्नि को और भी मर्माहत कर दिया। उनका क्रोध और बढ़ गया। वे अवज्ञा की वाणी में बोले—'विप्राधम! मेरे इस कार्य में बाधा डालने के लिए तू यहाँ क्यों आ गया है? मैं

सूर्य को ध्वस्त किये बिना विश्राम नहीं ले सकता। यदि तू अपना कल्याण चाहता है तो यहाँ से तुरन्त चला जा।'

ब्राह्मण हतप्रभ नहीं हुआ। वह उसी प्रकार विनीत वाणी में पुनः बोला—'महर्षे! आप अपनी जीवनव्यापी साधना के कल्पतरु को व्यर्थ ही क्यों काट रहे हैं? अपनी चिरसंचित तपोनिधि को इस प्रकार के पाप-कर्म में क्यों विनियुक्त कर रहे हैं? आप देख रहे हैं कि आप का लक्ष्य स्थिर नहीं है। ऐसे चल-लक्ष्य पर बाण-सन्धान किसी भी धनुर्धारी की निश्चित असफलता है।'

जमदग्नि क्रोध से विह्वल हो गये। बोले—'नीच ब्राह्मण! मेरा लक्ष्य चल है या स्थिर, इसकी चिन्ता तुझे क्यों है? मैं जानता हूँ कि तू ब्राह्मण वेशधारी सूर्य है, जो मुझे अपने प्रयत्नों से विरत कर रहा है। किन्तु पामर! मैं तुझे छोड़ नहीं सकता।'

ब्राह्मण काँपने लगा। जमदग्नि के प्रचण्ड क्रोध की मुद्रा अब और भी भयानक हो रही थी। मुख टेढ़ा हो गया था, ललाट पर अपार क्रोध की रेखाएँ खिंच गई थीं और अति आवेश से उनके श्वासोच्छ्वास की क्रिया में भी अवरोध होने लगा था। उन्होंने हाथ जोड़ कर जमदग्नि को दण्डवत् प्रणिपात किया और विनय भरे स्वर में कहा—

'धनुर्धारियों में अग्रणी जमदग्नि! निस्सन्देह आप मेरे शरीर का भेदन कर सकते हैं। भगवन्! यद्यपि मैंने आपका कोई अपराध जानबूझ कर नहीं किया है तथापि मैं आपकी शरण में हूँ। मुझ शरणागत को भस्म करने से आपकी अपकीर्ति होगी तपोधन! मुझे क्षमा करें।'

जमदग्नि का सहज क्रोध तत्क्षण शान्त हो गया। वह हँस पड़े और बोले—'सूर्यदेव! अब तुम्हें भय नहीं करना चाहिए, क्योंकि तुम मेरी शरण में हो। ब्राह्मणों में जो सरलता है, पृथ्वी में जो स्थिरता और क्षमता है, चन्द्रमा में जो सौम्यभाव है, समुद्र में जो गम्भीरता है, अग्नि में जो दीप्ति है, मेरु में जो चमक तथा सूर्य में जो तेजस्विता है, वह सब शरणागत की रक्षा द्वारा ही स्थिर है। जो अपने शरणागत का अपमान

करता है उसे इन सब की मर्यादाओं का विनाश करने का घोर पातक होता है। शरणागत का अपमान ब्रह्महत्या से भी बढ़कर है देव! किन्तु इस समय आपको इस प्रकार धर्षित करने का जो यह अवसर आया है, यह फिर से न आये—इसका कोई उपाय तो आप को करना ही होगा। क्योंकि जिस प्रकार मुझे और रेणुका को आपकी ज्वाला से दग्ध भूमि पर चलने का कष्ट हुआ है उसी प्रकार से सहस्रों मनुष्यों को होता होगा। क्या ऐसा कोई समाधान नहीं है, जिससे वसन्त और ग्रीष्म ऋतु के मध्याह्न में भी धरती का मार्ग सुगम हो सके?'

जमदग्नि के इस युक्तियुक्त अनुरोध को सूर्यनारायण भी ठुकरा नहीं सके। उन्होंने तत्क्षण एक छत्र तथा एक उपानह (जूता) प्रदान करते हुए जमदग्नि से कहा—'ब्रह्मर्षे! यह छत्र मेरी प्रदीप्त किरणों का निवारण करके आपके मस्तक की रक्षा करेगा तथा चमड़े के ये एक जोड़े जूते आपके चरणों को पृथ्वी की ज्वाला से जलने से बचायेंगे। आप इन्हें ग्रहण करें।

आज से इन दोनों वस्तुओं का आप पृथ्वी पर प्रचार कर दीजिये विप्र! इनके दान का भी महान् फल होगा; क्योंकि जिस प्रकार का कष्टानुभव तुम्हें और रेणुका को हुआ है, उससे त्राण पाने का यही एक मात्र उपाय है।'

कहते हैं, सूर्य द्वारा प्रदत्त उसी छत्र और उपानह के द्वारा इस धरती पर छाते और जूते का प्रचलन हुआ है। रेणुका की तपस्या और जमदग्नि की तेजस्विता की ये दोनो निशानियाँ आज मानव जाति की अनिवार्य आवश्यकता बन गई हैं। हिन्दुओं के धर्मशास्त्रों और पुराणों में इनके दान की बड़ी महिमा है और आज भी धर्म-भीरु नर-नारी धार्मिक पर्वो पर इनका दान करते देखे जाते हैं।

महाराज इलका स्त्री-पुरुष-जीवन

सूर्यवंश के आदि पुरुष विवस्वान की पत्नी संज्ञा देवी के गर्भ से श्राद्ध-देव मनुका जन्म हुआ था। और इन्हीं मनु को श्रद्धा नामक पत्नी से दस पुत्र उत्पन्न हुए थे, जिनमें सबसे बड़े पुत्र का नाम था इल। राजपुत्र इल का सम्पूर्ण जीवन बड़ा विचित्र रहा, उन्हें यौवनावस्था में स्त्री-योनि प्राप्त हुई, यद्यपि पुरुष रूप में भी उनके कई पुत्र उत्पन्न हो चुके थे। योनि-परिवर्तन की यह रोचक-कथा पुराणों में अनेक ढंग से प्रस्तुत की गई है, जिसका संक्षेप यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

वैवस्वत मनु आरम्भ में बहुत दिनों तक सन्तानहीन थे, जिसकी चिन्ता उन्हें तथा उनकी रानी दोनों को बहुत रहती थी। अन्त में निरुपाय होकर प्रार्थनाप्रीत सर्वसमर्थ वसिष्ठ मुनि ने उनसे पुत्र-कामना का पूरक मित्रावरुण नामक यज्ञ का अनुष्ठान करवाया, जिसके प्रसाद स्वरूप उन्हें सन्तान की प्राप्ति हुई। किन्तु विडम्बना यह हुई कि जहाँ मनु को पुत्र प्राप्ति की उत्कट कामना थी, वहीं श्रद्धादेवी पहले एक ऐसी दिव्यगुणोपेत पुत्री की अभिलाषिणी थीं, जो रूप एवं गुण में त्रैलोक्य भर में अनुपम हो। दैवेच्छावश यज्ञ के मुख्य पुरोहित ने वसिष्ठ के निर्देश की उपेक्षा कर श्रद्धादेवी की प्रार्थना स्वीकार कर ली और यज्ञ की सारी क्रियाओं का संकल्प पुत्री-प्राप्ति के लिए सम्पन्न किया। निदान यथासमय श्रद्धादेवी के गर्भ से जब कन्यारत्न की उत्पत्ति हुई तो श्राद्धदेव मनु और आचार्य वसिष्ठ को बड़ी निराशा और श्रद्धादेवी तथा पुरोहित को परम प्रसन्नता हुई। कन्या अलौकिक सुन्दरी थी और थोड़े ही दिनों में शुक्लपक्ष की चन्द्रकला के समान वह राजभवन को सुशोभित करने लगी।

किन्तु श्राद्धदेव मनु की पुत्र-चिन्ता जब न्यून नहीं हुई तो मुनिवर वसिष्ठ ने अपनी अमोघ मंत्र-शक्ति, तपस्या, साधना एवं विद्या के बल से उस राजपुत्री को पुत्र रूप में बदल दिया और मुनि के निर्देश तथा राजाज्ञा

की कठोरता के कारण अन्तःपुर की परिचारिकाओं एवं अन्तरंग सह-वासियों को छोड़कर इस रहस्यपूर्ण घटना की चर्चा अन्यत्र नहीं फैल सकी। राजकुमारी इला अब इल के नाम से राजभवन का भूषण बन गयी। शरीर उसका ऐसा था, जिसकी सुन्दरता की तुलना त्रिभुवन में दुर्लभ थी। उसके दीर्घायत रक्तिम नेत्रों से उद्भासित मुखमण्डल की छवि दर्शकों को बाँध लेती थी। पीन-प्रलंब बाहु, विशाल उन्नत वक्षस्थल, प्रशस्त स्कन्ध, एवं घन गर्जन के समान गम्भीर वाणी में श्राद्धदेव मनु की प्रतिच्छाया थी और वह थोड़े ही दिनों में अपने अनुपम व्यक्तित्व तथा दुर्लभ सद्गुणों से परिजन-पुरजन एवं प्रजाजनों में इतना लोकप्रिय हो गया मानों विधाता ने इल के रूप में मनु के साम्राज्य की समस्त आकांक्षाओं को मूर्त रूप दे दिया था। इल के मनोहर मुखचन्द्र की स्मिति रेखा सहस्रों को आनन्द-समुद्र में डुबा देती थी और जब कभी वह कुछ आदेश-निदेश करता था तो सभी सेवक एवं गुरुजन अपना सौभाग्य मानते थे।

मृदुभाषी इल कभी किसी को अप्रसन्न करना जानता ही नहीं था। मंत्र-शक्ति के अमोघ प्रभाव तथा अपरिमित लोक मंगलेच्छा से सारी विद्याएँ एवं कलाएँ उसने स्वल्प समय में ही अधिगत कर लीं। दैवेच्छा वश उसके जन्म के अनन्तर श्राद्धदेव मनु को नव अन्य पुत्र भी पैदा हुए थे, जिनके नाम थे—इक्ष्वाकु, कुशनाभ, अरिष्ट, नरिष्यन्त, करूष, शर्याति पृषध्र और नाभाग। इल को अपने इन सभी अनुजों का भी अनन्य प्रेम, आदर और श्रद्धा प्राप्त थी और अपने इस सुयोग्य पुत्र पर श्रद्धादेवी और श्राद्धदेव मनु का तो अगाध स्नेह था।

कुछ दिनों बाद जब राजकुमार इस योग्य हो गया कि अपने अनुजों के संग साम्राज्य का शासन भार सँभाल सके तो प्रजाजनों एवं सामन्तों की स्वीकृति से वैवस्वत मनु ने उसका राज्याभिषेक कर दिया और स्वयं तपस्या के लिए महेन्द्र वन का मार्ग ग्रहण किया। पिता द्वारा प्राप्त साम्राज्य का शासन इल ने इतनी निपुणता से किया कि धरती पर ज

अन्य स्वच्छन्द राज्य थे और जिन्होंने अब तक उसकी अधीनता स्वीकार नहीं की थी, उन सब का गर्व दलन कर उसने अपने साम्राज्य का भी विपुल विस्तार किया। शासन के दुराचरण दूर किये और गुणज्ञों, विद्वानों तथा आदरणीय जनों को पुरस्कृत कर दुष्ट दुरभिमानियों का ऐसा निर्दलन किया कि वे दुःसाहस छोड़कर सुजन बनने को विवश हुए।

एक बार इल ने अपने भृत्यों तथा अंगरक्षकों के संग मृगया के मनोरंजनार्थ राजधानी से प्रस्थान किया। शिकारी वेश में उसने अपने सर्वश्रेष्ठ श्वेत सैन्धव अश्व पर आरोहण किया और अनुयायियों के संग शरवण नामक घोर जंगल की ओर प्रस्थान किया। कुछ मृगमारे, कुछ हिंसक जीव मारे और कुछ नभचारी पक्षियों को शिकार बनाया किन्तु संयोग की प्रबलता वह मृगया का इतना लोलुप हो गया कि सैकड़ों जीवों के वध के अनन्तर भी उसकी अभिलाषा पूर्ण नहीं हुई और वह धीरे-धीरे शंकर और पार्वती जी के उस आनन्द कानन में प्रविष्ट हो गया, जिसमें किसी भी पुरुषयोनि प्राणी का प्रवेश वर्जित था। पार्वती के प्रणयानुरोध को अंगीकार कर शंकर जी ने यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि दस योजनायत इस कानन में जो कोई पुरुष प्राणी प्रवेश करेगा वह सदा के लिए स्त्री-योनि में बदल जायगा।

परिणामतः प्रवेश करते ही सम्राट् इल और उसके सैन्धव अश्व को शंकर-विनोदी अभिशाप में ग्रस्त होना पड़ा। दिव्यांगना के समान अद्भुत रूप-लावण्य एवं यौवन से विमण्डित होकर वह इधर-उधर दिग्भ्रान्त के समान विचरण करने लगा और उसका सैन्धव अश्व भी तत्क्षण वडवा (घोड़ी) बनकर हिनहिनाने लगा। उसके अनुयायी गण इतने पीछे रह गये थे कि निर्जन अरण्यानी में पथभ्रष्ट और भूख-प्यास से श्लथ-विश्लथ होकर वे राजधानी को वापस लौट गये और इधर थोड़ी ही देर बाद इल को यह भी भूल गया कि वह पहले कौन था और उसकी यह गति किस प्रकार हुई ?

शंकर-पार्वती के उस विनोद-कानन में दिग्भ्रान्त सुन्दरी इला के

अलौकिक सौन्दर्य एवं यौवन को देखकर चन्द्रमा का पुत्र बुध अत्यन्त काममोहित हुआ और उसने उसकी दयनीय स्थिति से लाभ उठाकर उससे बड़ी प्रवंचना की। बुध ने वटु का वेश धारण किया। हाथ में कमण्डलु और पुस्तक, मस्तक पर मोटी चोटी, कंधे पर पुष्प, फल, समिधा और कुश की पोटली तथा पीछे-पीछे शिष्यों की एक मण्डली लेकर वह एक वट वृक्ष के नीचे बैठ गया और चकित विस्मित इला को उपालम्भ के मृदु स्वर में बुलाते हुए कहा—

—'सुन्दरि ! आश्रम में अग्निहोत्रादि एवं मेरी सेवा-शुश्रूषा छोड़कर तुम यहाँ निर्जन कानन में क्यों घूम रही हो ? तुम शीघ्र आश्रम की ओर चलो; मैं भी अभी आ रहा हूँ।'

इला चमत्कृत हुई। कुछ क्षणों तक स्तब्ध रहकर विस्मित वाणी में बोली—

—'तपस्विन् ! आपने जो ये बातें कही हैं, उन्हें तो मैं एकदम भूल गई हूँ। अतः कृपा कर मुझे अपना तथा स्वयं मेरा परिचय कराइये।'

प्रवंचक बुध ने मोहिनी वाणी में इला को वश्य वना लिया और उसे अपने आश्रम को ले गया। चन्द्रमा के पुत्र बुध का गृहस्थ-जीवन वैभव और विलासिता का भण्डार था। सुख-सौन्दर्य के प्रसाधनों की बहुलता थी। परिणाम यह हुआ कि वह इला बड़े आनन्द से बुध के साथ दाम्पत्य जीवन बिताने लगी और उसे कभी भूलकर भी अपने अतीत जीवन की स्मृति नहीं आई।

× × ×

इधर बहुत दिनों तक इल के राजधानी वापस न लौटने पर उसके अनुजों को बड़ी चिन्ता हुई। वे व्याकुल होकर उसे ढूँढ़ने के लिए शरवण की ओर दल-बल के साथ चल पड़े। बड़े प्रयत्नों के बाद उन्हें इल की वह बड़वा मिली जो बहुत दिनों से वन्य जीवन की अभ्यासिनी होने के कारण सहसा पहचानी नहीं जा सकी। उसके अंगों पर वह रत्न जटित जीन अब भी फटी-पुरानी दशा में मौजूद था, जिस पर चढ़कर इल ने प्रस्थान किया

था। बहुत तर्क-वितर्क और मीमांसा करने पर भी जब उन्हें अश्व के बडवा रूप में बदल जाने का रहस्य नहीं ज्ञात हो सका तो वे निरुपाय और निराश होकर उस घोड़ी के संग अपने गुरु मुनिवर वसिष्ठ की सेवा में उपस्थित हुए। त्रिकालज्ञ मुनिवर वसिष्ठ से यह रहस्य छिपा नहीं रह सका और उन्होंने बड़े खेद के साथ महाराज इल के वर्तमान जीवन का वृत्तान्त जब इक्ष्वाकु आदि उनके अनुजों को बताया तो समूची राजधानी में शोक का समुद्र लहरा गया। विधाता की इस क्रूर कल्पना की सब ने निन्दा की और यथाशीघ्र प्रवंचक बुध के घर से इला के उद्धार का उपाय पूछा।

महर्षि वसिष्ठ की मंत्र-शक्ति एवं शंकर-पार्वती के प्रसाद से इला को किम्पुरुष योनि प्राप्त हुई। इसमें वह एक मास तक पुरुष और एक मास तक स्त्री योनि में रहने लगा किन्तु सर्वथा पुरुष योनि उसे नहीं मिल सकी। बुध के संसर्ग से उसे अब तक एक पुत्र उत्पन्न हो चुका था, जिसका नाम पुरूरवा था।

किम्पुरुष योनि में परिणत होकर जब राजा इल अपनी राजधानी को वापस लौटा तो प्रजावर्ग ने उसका अपूर्व अभिनन्दन किया, किन्तु उसे अपने प्यारे पुत्र पुरूरवा के छोड़ने की असह्य पीड़ा अब भी थी। उधर महर्षि वसिष्ठ के अनुरोध, इक्ष्वाकु आदि की प्रार्थना एवं आतंक से बुध ने इला को त्याग कर स्वर्ग को प्रस्थान किया, किन्तु अपने पुत्र पुरूरवा के लालन-पालन का उसने भी भूलोक पर उचित प्रबन्ध किया था। उसे भी अपने पुत्र की बड़ी चिन्ता थी।

किन्तु राजधानी में इल को पूर्व प्रतिष्ठा अक्षुण्ण नहीं रह सकी। एक मास तक पुरुष एवं एक मास तक स्त्री-जीवन बिताने के कारण उसका सम्मान घट गया। स्वभाव में स्त्रैणता आ गई और उसने धीरे-धीरे शासन भार को स्वयं त्याग दिया। उसका पूर्व नाम इल भी बदल दिया गया और लोग उसे सुद्युम्न नाम से पुकारने लगे। वसिष्ठ की प्रेरणा और सुद्युम्न की इच्छा से इक्ष्वाकु ने जब शासन का भार अपने कन्धों

पर लिया तो प्रजावर्ग ने उसी तरह आनन्द और उत्सव मनाया जैसा इल के अभिषेक पर मनाया था।

पुरुष जीवन में सुद्युम्न के यद्यपि तीन अन्य पुत्र भी उत्पन्न हुए, जिनके नाम उत्कल, गय और हरिताश्व थे किन्तु पुरूरवा को भुला देना उनके वश में नहीं था। अन्त में भाइयों के परामर्श से उन्होंने उत्कल नामक पुत्र को उत्कल (उड़ीसा) प्रदेश, गय को गया नामक नगरी, हरिताश्व को कुरुप्रदेश का पूर्ववर्ती राज्य, पुरूरवा को गंगा-यमुना के संगम स्थल का राज्य देकर प्रतिष्ठानपुर नामक नगरी दी, और स्वयं इलावृत्त नामक उस मनोहर उपवन की ओर प्रस्थान किया, जहाँ बुध के साथ सुखपूर्ण जीवन बिताया था।

यही पुरूरवा चन्द्रवंश का प्रथम राजा था, यद्यपि उसके तीनों अन्य भाई सूर्यवंश में परिगणित थे। चन्द्रमा का पौत्र तथा बुध का पुत्र होने के कारण ही वह चन्द्र वंश का आदि पुरुष हुआ और सूर्य के पौत्र तथा मनु के पुत्र इल एवं इक्ष्वाकु आदि का वंश सूर्यवंश के नाम से विख्यात हुआ। इस प्रकार एक ही मूल पुरुष मनु की सन्तानों का सूर्य एवं चन्द्र वंश में जो विभाजन हुआ उसका एक मात्र कारण इल के यौन-परिवर्तन की उक्त दुर्घटना ही थी।

जाजलि का गर्वहरण

प्राचीन काल में जाजलि नामक एक परम तपस्वी मुनि को दुर्भाग्यवश अपनी अखण्ड तपस्या और दुर्धर्ष साधना का दुरभिमान हो गया। यद्यपि उनका स्वभाव बाल्यकाल से ही सौम्य तथा परोपकारी था और अपने जीवन में उन्होंने कभी कोई कठोर काम नहीं किया था तथापि कुछ ऐसे कारण उत्पन्न हो गए, जिनसे उन्हें अपनी तपस्या और साधना का दुरभिमान हो ही गया।

बात यों थी कि जाजलि की तपोभूमि नितान्त एकान्त समुद्र तटवर्ती वन्य प्रान्त में थी। पशु-पक्षियों एवं वनस्पतियों के सिवा उनकी अनेक वर्षों से किसी मानवजन्मा से भेंट नहीं हो सकी थी। उनकी तपस्या थी भी बड़ी कठोर। वे प्रति दिन सायंकाल और प्रातःकाल स्नान एवं संध्योपासना करके विधिवत् स्वाध्याय करते थे। जंगली कन्दमूल-फलादि का सेवन करते थे। न कभी शैया पर सोते थे, न लेटते थे। प्राणायाम की दुष्कर क्रियाओं का उन्हें अच्छा अभ्यास था। भीषण गर्मी हो या कठोर शीत, वर्षा की झड़ी लगी हो या प्रचण्ड तूफान, जाजलि कभी किसी वृक्ष की छाया में भी अवस्थान नहीं करते थे। खुले आकाश के नीचे धरती की गोद में ही उनकी साधना चलती थी। अपने तेजस्वी शरीर की रक्षा की बात तो दूर उसे उन्होंने कठोर कष्टों को बरदाश्त करने का साधन मान लिया था। वे जान बूझकर ऐसा एक भी काम नहीं करते थे, जिससे उन्हें तनिक भी आराम मालूम पड़े।

थोड़े दिनों तक तो वे धरती पर लेट भी जाते थे किन्तु बाद में चल कर उनकी साधना का क्रम खड़े होकर ही चलने लगा। वर्षा की ऋतु थी। दिन-रात भयंकर वृष्टि हो रही थी। खड़े होने की जगह पर भी कंठ तक पानी बहने लगा था किन्तु जाजलि विचलित नहीं हुए। उनकी साधना और जप का क्रम अबाध रूप से चलता रहा। सप्ताह और पख-

वारे बीत गये किन्तु जाजलि का हठ-योग चलता ही रहा। इस बार उन्होंने संकल्प किया था कि जब तक वृष्टि बन्द नहीं हो जाती, वे अपनी साधना भंग नहीं करेंगे। निदान वृष्टि तो एक दिन बन्द हो गई किन्तु जाजलि की तपस्या पूर्ववत् चलती ही रही। इसके बाद तो उन्होंने और भी कठोर संकल्प ग्रहण किया। उन्होने निश्चय किया कि—इस पार्थिव शरीर को मिट्टी के पुतले की भाँति ही निश्चल और सर्वसहिष्णु बनाकर ही हटूँगा।

दृढ़ निश्चयी जाजलि का यह सत्संकल्प भी शनैः-शनैः पूरा हो गया। उनकी केशराशि स्नेह और साज-सँवार के अभाव में उलझकर सूख गई। शरीर पर मैल की मोटी तह जमा हो गई, अंग-प्रत्यंग सूख कर काँटे बन गये, किन्तु उनका साधनालीन अंतःकरण निर्मल बनकर तेजस्वी नेत्रों के द्वारा अग-जग की निःसारता का दर्शन कर उत्तरोत्तर दिव्य होता गया।

इसी बीच एक अनहोनी घटना भी हुई। ठूँठे पेड़ की भाँति महीनों से एक ही रूप में खड़े हुए जाजलि के निष्क्रिय शरीर को किसी वृक्ष का अवशेष मानकर एक चटक दम्पती (गौरैया के जोड़े) ने उनकी जटाओं में अपना घोंसला बनाना शुरू किया। शिर पर दो पक्षियों के कोमल पद-चापों के सुखद स्पर्श ने जाजलि को रोमांचित कर दिया। उनका करुणा-विगलित हृदय उमड़ पड़ा। उन्हें प्रथम बार यह अनुभव हुआ कि उनकी साधना और तपस्या सफल हो रही है। वर्षों से सूखे हुए उनके नेत्रों में आनन्द की धारा उमड़ पड़ी। फिर तो उन्होंने नया निश्चय किया कि—जब तक ये पक्षी विश्वासपूर्वक हमारी जटाओं में निवास करके अपनी इच्छा से उड़ नहीं जाते तब तक मैं यों ही खड़ा रहूँगा। जीवित या चल होने का कोई लक्षण नहीं प्रकट करूँगा।

जाजलि आरम्भ से ही दृढ़ संकल्पी थे। विश्वासपूर्वक पक्षियों के निवास कर लेने के बाद उन्होंने अपनी श्वास-क्रिया पर भी नियंत्रण आरंभ किया। जब तक वे पक्षी उनकी जटाओं पर रहते तब तक वे

अपनी श्वास-क्रिया को भी भरसक बन्द रखते, हिलने-डुलने की तो बात ही क्या थी। और जब पक्षी विहार के लिए उड़ जाते तब वे साधारण शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्तिकर पुनः तद्वत् खड़े हो जाते। वर्षा के बाद शरद्, हेमन्त और शिशिर ऋतु भी बीत गई। वसन्त के आगमन में पक्षियों ने उनकी जटाओं में ही अंडे दिये और धीरे-धीरे वे अण्डे भी बच्चे बनकर सुखपूर्वक जाजलि की जटाटवी में विहार करने लगे।

धीरे-धीरे जाजलि की जिम्मेदारी बढ़ती गई। अब शिर पर पक्षियों का एक कुनबा बस जाने के कारण उनमें से कोई न कोई बराबर ही वहाँ बना रहता और अब जाजलि को बराबर ही उसी रूप में श्वासावरोध किये हुए खड़ा रहना पड़ता। धीरे-धीरे बच्चे भी बड़े हुए। उड़ना सीख गये और अब यदा-कदा अपनी माता अथवा पिता के साथ उड़कर दूर-दूर तक जाने लगे। जाजलि को इससे अपार प्रसन्नता होती। सांसारिक सुखों तथा दुखों से वीतराग उनके हृदय में पक्षियों के इस कुटुम्ब के संग गहरी आत्मीयता हो गई। उनका तथा उनके बच्चों का उड़ना, फुदकना, बोलना और किलोल करना उन्हें बहुत कापसन्द आने लगा। उनके कुशल-क्षेम की वे कामना करने लगे और इन सब के मूल में अपनी कठोर तपस्या और साधना को समझकर उन्हें आन्तरिक सुख मिलने लगा।

सुख की यही क्षीण भावना धीरे-धीरे जाजलि के हृदय में कामना तरु के रूप में उत्पन्न हुई। अनायास ही उनके मन में यह विचार दृढ़ होने लगा कि इस संसार में ऐसी कठोर साधना का कार्य बहुत सरल नहीं है क्योंकि महीनों तक ठूँठे पेड़ की भाँति खड़ा होनेवाला कोई साधक कहाँ मिल सकता है ? कुतूहल और आत्म-सन्तोष की यह भावना जाजलि के मन में उत्तरोत्तर प्रवृद्ध होती गई और इसी बीच जटाओं में निवास करनेवाले पक्षियों के आवास का क्रम भी कुछ बदल गया। वे एक-दो दिन के बाद अब दस-दस, पन्द्रह-पन्द्रह दिनों तक अन्यत्र भी रहने लगे क्योंकि जाजलि के छोटे से शिर पर अवस्थित जटाकलाप में अब उस बढ़ते हुए परिवार का निर्वाह कठिनता से होने लगा था। आरम्भ में माता और

पिता तथा बाद में बच्चों ने भी जाजलि की जटाओं को सदा के लिए त्यागकर अन्यत्र अपना आवास बना लिया।

किन्तु फिर भी जाजलि ने महीने भर तक उनके आगमन की उत्सुक प्रतीक्षा की और जब वे नहीं आये तो उन्होंने वहाँ से प्रस्थान कर दिया किन्तु साधना-भूमि से हटते ही जाजलि का हृदय विस्मय से भर गया। इस दीर्घ कालावधि में उन्होंने जो कठोर तप किया था, उसकी अनुस्मृति से उनका हृदय उमड़ पड़ा। उन्होंने अपने को एक सिद्ध मान लिया और धीरे-धीरे इस भावना ने उनके निष्कलुष हृदय को दुरभिमान से भर दिया। उनकी चेतना-शून्य इन्द्रियों में कामना की झंकार से अद्भुत शक्ति आ गई। हाथों में, पैरों में, नेत्रों में, सर्वत्र विद्युत् रेखा की भाँति स्फूर्ति छलकने लगी। वे तत्क्षण नदी तट पर पहुँचे। स्नान किया, सन्ध्या-तर्पण किया, अग्निहोत्र किया और उगते हुए सूर्य की उपस्थापना की। उसी क्षण उन्हें पुन: अपनी सिद्धि एवं साधना की ऐसी रोमांचकारी स्मृति हुई कि उस निर्जन नदी-तट पर आकाश मार्ग में ऊपर उठते भुवनभास्कर की किरणों का मानों अपनी तेजस्विता से उपहास-सा करते हुए जाजलि ताल ठोंककर अपने आप बोल पड़े—

'भास्कर! तुझे अपनी तेजस्विता का व्यर्थ ही इतना अभिमान है। मैंने भी इस धरती पर धर्म की प्राप्ति की है। तुम मेरी तेजस्विता को देख सकते हो।'

यद्यपि चिरकाल से अनाहार और संयम से जाजलि की जाँघों से न तो कोई कठोर ध्वनि हुई थी और न उनकी वाणी ही दूर तक सुनाई पड़ी थी किन्तु जाजलि को लगा जैसे समूची धरती ही उनकी तेजस्विता और साधना का लोहा मान रही है। वे तपोभूमि से चलकर तुरन्त मानव समाज में मिलने के लिए चल पड़े किन्तु थोड़ी ही दूर जाने पर उन्हें एक अशरीरिणी वाणी सुनाई पड़ी। वह इस प्रकार थी—

'जाजले! तुम्हारी साधना और तपस्या अवश्य उत्तम कोटि की है किन्तु तुम धर्म में वाराणसी के तुलाधार वैश्य के समान नहीं हो। किन्तु

फिर भी तुम अपने धर्म की जो डींग हाँक रहे हो, वैसी तुलाधार कभी नहीं हाँकते।'

जाजलि के उत्सुक कान उनके हृदय के साथ ही अवसन्न हो गये। अमर्ष और ईर्ष्या से रक्तिम उनकी आँखों ने चतुर्दिक देखा किन्तु कहीं कोई दिखाई नहीं पड़ा। फिर तो वे तुलाधार से मिलने के लिए वाराणसी के दुर्गम पथ पर चल पड़े। दिन-रात, सप्ताह, पक्ष और महीने बीत गये। जाजलि वाराणसी जाने वाले पथ पर अविश्रान्त चलते रहे। न उन्हें भूख थी, न प्यास। अमर्ष की धूल फाँकते हुए और ईर्ष्या की कड़वी घूँटें पीते हुए वे अपने गन्तव्य पर चलते ही रहे।

वाराणसी पहुँच कर तुलाधार का पता लगाना कुछ कठिन नहीं था। जाजलि थोड़ी ही देर में उनकी दूकान पर पहुँच गये किन्तु वहाँ पहुँच कर जाजलि ने जो कुछ देखा, उससे उन्हें विशेष धक्का लगा। कहाँ वर्षों तक शरीर की सुधि-बुधि भूलनेवाले, कठोर तपस्वी जाजलि की अलौकिक तपस्या थी और कहाँ प्रति दिन की जीवनोपयोगी सामग्रियों का क्रय-विक्रय करनेवाले तुलाधार की दूकान, जिसमें साधना और तपस्या तो दूर, लाभ-हानि की चिन्ता ही प्रमुख थी। दूकान के समीप पहुँच कर जाजलि चुप-चाप खड़े हो गये, उस समय तुलाधार अपने किसी ग्राहक को कोई सामग्री विक्रय कर रहे थे। जाजलि के ईर्ष्यालु हृदय को उनके अविश्वास, विकल्प और प्रतिस्पर्द्धा की कुंठित भावनाओं ने और भी झकझोर दिया। वे बड़ी देर तक उसी तरह अपलक नेत्रों से कभी तुलाधार को कभी उसकी दूकान में रखी हुई खाने-पीने की वस्तुओं को और कभी उसके ग्राहकों को देखते रहे। इसी बीच तुलाधार को अपने ग्राहकों से अवकाश मिल गया। वह जाजलि को देखते ही तुरन्त दूकान से नीचे उतर पड़े और उनका स्वागत-समादर करते हुए बोले—

'ब्रह्मन्! आप बड़ी दूर से हमारे पास आ रहे हैं। आपको मार्ग में अनेक कष्ट हुए हैं—यह सब मुझे मालूम है। निश्चय ही आपने कठोर तपस्या और साधना की है। किन्तु इसके पहले भी आपने ऐसी तपस्याएँ

को हैं और कभी आपको यह ज्ञान नहीं हुआ था कि मैं बड़ा धर्मवान हूँ, बड़ा तपस्वी हूँ और अलौकिक साधक हूँ।

'विप्रवर ! यह सत्य है कि आपने उच्च कोटि की सिद्धि प्राप्त कर ली थी और महीनों तक एक पक्षी-परिवार ने वृक्ष के ठूँठ के समान आप के निश्चल शरीर और निष्क्रिय जटाओं में सुखपूर्वक निवास किया था किन्तु उसके अनन्तर तो जो कुछ आपने किया वही अनिष्टकर हो गया। उसी से वह अप्रिय अशरीरिणी वाणी आप को सुनाई पड़ी। ब्रह्मन् ! अमर्ष सारी सिद्धियों का विध्वंसक है। साधना के कल्पतरु को काटनेवाले इस कुठार को आपने अपने भीतर क्यों रहने दिया ? वही आपका सब से बड़ा दुर्धर्ष शत्रु बन गया। अस्तु !

'मैं जानना चाहता हूँ कि अब मैं आपके कल्याण के लिए कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ?'

तुलाधार की इस विस्मयकारिणी वाणी ने जाजलि को स्तम्भित कर दिया। निर्जन तपोवन में एकाकी उनके साथ घटित घटनाओं की चर्चा कर तुलाधार ने मानों उन्हें विस्मय के समुद्र में डूबने के लिए फेंक दिया था। बड़ी देर तक वह चुप रहे। उनका दुरभिमान गलकर आँखों के मार्ग से निकलने लगा। करुणाविगलित हृदय में अनुताप की लहरें दौड़ने लगी। वह गद्‌गद् वाणी में तुलाधार का अभिनन्दन करते हुए बोले—

'तपोधन ! आपने मेरी आँख खोल दी हैं। वैश्य-पुत्र होकर भी आप ने इस गृहस्थ जीवन में रहकर जो अलौकिक सिद्धि प्राप्त की है, वह मै ब्राह्मणजन्मा होकर और विविध वन में अनेक वर्ष कष्टपूर्वक बिताकर भी नहीं प्राप्त कर सका हूँ। मैं जानना चाहता हूँ कि रस, गन्ध, वनस्पति, ओषधि और मूल-फलादि बेचते हुए भी आपने यह सिद्धि कैसे प्राप्त की ? यदि आप उचित समझें तो मुझे इसी का रहस्य बता दें।'

जाजलि की इन चाटूक्तियों से अप्रभावित हुए बिना ही तुलाधार तत्क्षण सहज वाणी में बोला—'ब्रह्मन् ! जिस वृत्ति में किसी भी प्राणी

सर्वप्रथम अपना नृत्य एवं गायन प्रस्तुत करने का आदेश दें। आज सर्व-प्रथम वही अप्सरा अपने सुन्दर नृत्य एवं गायन से आपका मनोरंजन कर हमारी सभा की शोभा वृद्धि करेगी।'

देवर्षि नारद संकट में पड़ गये। उन्होंने सम्पूर्ण त्रैलोक्य देखा था। लक्ष्मी और पार्वती जैसी आराध्य देवियाँ भी उनका स्वागत करने में अपना सौभाग्य समझतीं थीं। आज उनके सम्मुख एक से एक बढ़कर सुन्दरी और गायन-वादन तथा नृत्य में अपनी समानता न रखने वाली देवलोक की अप्सराएँ खड़ी थीं। उन्हें प्रत्यक्ष देखकर यह कोई भी नहीं कह सकता था कि इनमें कौन श्रेष्ठ हैं और कौन घटकर है। थोड़ी देर तक तो नारद जी चुप बने रहे। उन्होंने तटस्थ भाव से अप्सराओं की ओर देखा और कुछ सोचने-विचारने लगे। किन्तु इधर इसी बीच में अप्सराओं में नारद जी की दुविधा के कारण हँसी के फौव्वारे छूटने लगे। देवराज इन्द्र को देवर्षि नारद की इस दुविधा से बड़ा आनन्द मिला और वे परिहासवश देवर्षि नारद जी से अपना निर्णय देने में शीघ्रता का अनुरोध करने लगे।

नारद जी बड़े अनुभवी तथा सांसारिक व्यवहारों में निपुण थे। उन्होंने अप्सराओं को सम्बोधित कर कहा—

'सुन्दरियों ! तुम सभी त्रैलोक्य में सबसे बढ़ कर सुन्दरी हो। तुम्हारे सौन्दर्य और गुण की तुलना कहीं अन्यत्र नहीं की जा सकती और इसी-लिए तुम सभी हमारी दृष्टि में समान रूप में सम्मान्य हो, लेकिन आज के कार्यक्रम में सर्वप्रथम उसी को भाग लेना है जो तुम्हारे बीच में स्वयं अपने को सौन्दर्य और गुणों में सर्वश्रेष्ठ मानती हो। इसका निर्णय तो आज स्वयं तुम्हीं लोगों को करना है।'

नारद जी की चतुराई से भरी यह बात सुनकर देवराज मुस्कराने लगे और उधर क्षणभर के लिए अप्सराओं के समूह में गंभीरता छा गई। नारद जी की प्रशंसा से वे पहले तो फूल उठी थीं किन्तु जब नारद जी ने निर्णय का भार उन्ही के ऊपर डाल दिया तो स्त्री-सुलभ-संकोच और

लज्जा से वे दब-सी गईं। यद्यपि उन सब में एक-दूसरे से अपने को अधिक सुन्दरी और गुणवती मानने का आग्रह मौजूद था तथापि देवराज के सामने यह प्रकट करने की हिम्मत किसी में भी नहीं थी। वे एक-दूसरे का मुँह ताकने लगीं। मेनका ने रम्भा और तिलोत्तमा ने ऊर्वशी की ओर देखकर कुछ कहने का ज्यों ही उपक्रम किया त्यों ही देवराज इन्द्र बोल पड़े। उन्होंने कहा—

'सुन्दरियों ! नारद जी ने तो बहुत ठीक कहा है। आज तुम सब एक साथ यहाँ उपस्थित हो, अतः यह निर्णय तो हो ही जाना चाहिए कि तुम सब में सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी और गुणवती अपने को कौन मानती है। हमें भी सदैव इस प्रश्न का निपटारा करने में कठिनाई होती है कि आखिरकार तुम सब में सर्वश्रेष्ठ कौन है ? यह बहुत सुन्दर हुआ, जो नारद जी ने इसके निर्णय को भार तुम्हीं लोगों पर डाल कर हमारी कठिनाई को सदा के लिए दूर कर दिया।'

मेनका देवराज की मुँहलगी थी। वह मुस्कराते हुए बोली—'देवराज ! हम स्त्रियों में अपने सौन्दर्य और गुण का अभिमान होना तो स्वाभाविक है और यह भी सत्य है कि हममे से सभी एक-दूसरे से अपने को श्रेष्ठ मानती हैं किन्तु इस भरी सभा में इसकी घोषणा करना हमारे वश मे नहीं है। हम तो देवर्षि नारद जी के निर्णय को ही सर्वमान्य समझती हैं।'

ऊर्वशी, तिलोत्तमा, घृताची और रम्भा ने भी मेनका की बातों का अनुमोदन किया और देवर्षि नारद जी से ही इस प्रश्न का निर्णय देने का अनुरोध किया। नारद जी हतप्रभ नहीं हुए। उन्होंने पुनः तत्काल कहा—

'सुन्दरियों ! इस जटिल समस्या का समाधान हमारे भी वश में नहीं है। संसार भर में केवल एक ही व्यक्ति ऐसे हैं, जो इस समस्या का समाधान कर सकते हैं। वह हैं महामुनि दुर्वासा। वह आजकल हिमालय पर्वत की गुफा में निराहार रहकर तपस्या कर रहे हैं। उनका तपोबल दिनानुदिन बढ़कर देवराज इन्द्र के लिए भी बाधक बनता जा रहा है अतः तुममें से

सर्वप्रथम अपना नृत्य एवं गायन प्रस्तुत करने का आदेश दें। आज सर्वप्रथम वही अप्सरा अपने सुन्दर नृत्य एवं गायन से आपका मनोरंजन कर हमारी सभा की शोभा वृद्धि करेगी।'

देवर्षि नारद संकट में पड़ गये। उन्होंने सम्पूर्ण त्रैलोक्य देखा था। लक्ष्मी और पार्वती जैसी आराध्य देवियाँ भी उनका स्वागत करने में अपना सौभाग्य समझतीं थीं। आज उनके सम्मुख एक से एक बढ़कर सुन्दरी और गायन-वादन तथा नृत्य में अपनी समानता न रखने वाली देवलोक की अप्सराएँ खड़ी थीं। उन्हें प्रत्यक्ष देखकर यह कोई भी नहीं कह सकता था कि इनमें कौन श्रेष्ठ हैं और कौन घटकर है। थोड़ी देर तक तो नारद जी चुप बने रहे। उन्होंने तटस्थ भाव से अप्सराओं की ओर देखा और कुछ सोचने-विचारने लगे। किन्तु इधर इसी बीच में अप्सराओं में नारद जी की दुविधा के कारण हँसी के फौव्वारे छूटने लगे। देवराज इन्द्र को देवर्षि नारद की इस दुविधा से बड़ा आनन्द मिला और वे परिहासवश देवर्षि नारद जी से अपना निर्णय देने में शीघ्रता का अनुरोध करने लगे।

नारद जी बड़े अनुभवी तथा सांसारिक व्यवहारों में निपुण थे। उन्होंने अप्सराओं को सम्बोधित कर कहा—

'सुन्दरियों! तुम सभी त्रैलोक्य में सबसे बढ़ कर सुन्दरी हो। तुम्हारे सौन्दर्य और गुण की तुलना कहीं अन्यत्र नहीं की जा सकती और इसीलिए तुम सभी हमारी दृष्टि में समान रूप में सम्मान्य हो, लेकिन आज के कार्यक्रम में सर्वप्रथम उसी को भाग लेना है जो तुम्हारे बीच में स्वयं अपने को सौन्दर्य और गुणों में सर्वश्रेष्ठ मानती हो। इसका निर्णय तो आज स्वयं तुम्हीं लोगों को करना है।'

नारद जी की चतुराई से भरी यह बात सुनकर देवराज मुस्कराने लगे और उधर क्षणभर के लिए अप्सराओं के समूह में गंभीरता छा गई। नारद जी की प्रशंसा से वे पहले तो फूल उठी थीं किन्तु जब नारद जी ने निर्णय का भार उन्ही के ऊपर डाल दिया तो स्त्री-सुलभ-संकोच और

लज्जा से वे दब-सी गईं। यद्यपि उन सब में एक-दूसरे से अपने को अधिक सुन्दरी और गुणवती मानने का आग्रह मौजूद था तथापि देवराज के सामने यह प्रकट करने की हिम्मत किसी में भी नहीं थी। वे एक-दूसरे का मुँह ताकने लगीं। मेनका ने रम्भा और तिलोत्तमा ने ऊर्वशी की ओर देखकर कुछ कहने का ज्यों ही उपक्रम किया त्यों ही देवराज इन्द्र बोल पड़े। उन्होंने कहा—

'सुन्दरियों! नारद जी ने तो बहुत ठीक कहा है। आज तुम सब एक साथ यहाँ उपस्थित हो, अतः यह निर्णय तो हो ही जाना चाहिए कि तुम सब में सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी और गुणवती अपने को कौन मानती है। हमें भी सदैव इस प्रश्न का निपटारा करने में कठिनाई होती है कि आखिरकार तुम सब में सर्वश्रेष्ठ कौन है? यह बहुत सुन्दर हुआ, जो नारद जी ने इसके निर्णय को भार तुम्हीं लोगों पर डाल कर हमारी कठिनाई को सदा के लिए दूर कर दिया।'

मेनका देवराज की मुँहलगी थी। वह मुस्कराते हुए बोली—'देवराज! हम स्त्रियों में अपने सौन्दर्य और गुण का अभिमान होना तो स्वाभाविक है और यह भी सत्य है कि हममें से सभी एक-दूसरे से अपने को श्रेष्ठ मानती हैं किन्तु इस भरी सभा में इसकी घोषणा करना हमारे वश मे नहीं है। हम तो देवर्षि नारद जी के निर्णय को ही सर्वमान्य समझती हैं।'

ऊर्वशी, तिलोत्तमा, घृताची और रम्भा ने भी मेनका की बातों का अनुमोदन किया और देवर्षि नारद जी से ही इस प्रश्न का निर्णय देने का अनुरोध किया। नारद जी हतप्रभ नहीं हुए। उन्होंने पुनः तत्काल कहा—

'सुन्दरियों! इस जटिल समस्या का समाधान हमारे भी वश में नहीं है। संसार भर में केवल एक ही व्यक्ति ऐसे हैं, जो इस समस्या का समाधान कर सकते हैं। वह हैं महामुनि दुर्वासा। वह आजकल हिमालय पर्वत की गुफा में निराहार रहकर तपस्या कर रहे हैं। उनका तपोबल दिनानुदिन बढ़कर देवराज इन्द्र के लिए भी बाधक बनता जा रहा है अतः तुममें से

जो कोई उनके समीप जाकर अपने अलौकिक गुण, सौन्दर्य और यौवन से उनका ध्यान तपस्या से हटाकर अपनी ओर खींच ले, वही त्रैलोक्य की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी का दुर्लभ पद पाने के योग्य है। और वही देवराज की सभा में भी सर्वप्रथम नृत्य-गान करने की अधिकारिणी होगी। उसके इस प्रयत्न से देवराज का भी लाभ है क्योंकि महामुनि दुर्वासा का अलौकिक तप कभी न कभी देवराज की विपत्तियों का कारण भी बन सकता है।'

नारद जी की यह वाणी सुनकर देवराज समेत उनकी सारी सभा और अप्सराओं का समूह अवसाद से भर गया क्योंकि वे सभी सहजक्रोधी दुर्वासा से सुपरिचित थे। मेनका और रम्भा ने अपना सिर नीचे झुका लिया तथा घृताची, ऊर्वशी और तिलोत्तमा अपनी अन्य सहेलियों की ओर देखकर गंभीर बन गई। किसी में यह साहस नहीं रह गया कि वह देवर्षि नारद की इस शर्त को पूरा करने को अग्रसर होती।

इस प्रकार अप्सराओं का समूह जब निराशा और चिन्ता के असह्य बोझ से विह्वल हो रहा था तब उनके बीच से उन्हीं की एक सहेली वपु नाम की अप्सरा, जो अब तक संकोच के कारण सबसे पीछे खड़ी थी, सबके आगे आ गई। उसका मुख-कमल सहज स्वाभिमान की रेखाओं से से प्रदीप्त हो रहा था। उसके दीर्घायत रक्तिम लोचनों में विश्वास की दृढ़ता थी और कपोलों तथा नासिका के अग्रभाग अन्य गौरांगों की अपेक्षा अधिक रक्तवर्ण के हो गये थे। उसका स्वर कृत्रिम ढंग से गंभीर था, यद्यपि वाणी का प्रवाह विस्खलित था। थोड़ी देर तक इधर-उधर देखकर उसने देवराज इन्द्र की ओर प्रणिपात किया और विनय भरे स्वर मे कहा—

'पूज्य देवराज और देवर्षि नारद जी ! मैं हिमालय पर्वत पर तपोरत महामुनि दुर्वासा के समीप जाने को उत्सुक हूँ। मुझे दृढ़ विश्वास है कि अपने अनुपम सौन्दर्य, यौवन और संगीत के द्वारा मैं उनका ध्यान अपनी ओर खींचने में सफल होऊँगी। अपनी जिन इन्द्रियों और मन को उन्होंने कठोर तपस्या के नियमों में बाँध रखा है, उन्हें हम अपने कामबाण के

तीक्ष्ण प्रहारों से वश में कर लेंगी। आप कृपापूर्वक ऐसा करने की हमें अनुज्ञा दें।'

वपु की इस विश्वासभरी वाणी ने देवसभा को स्तब्ध कर दिया। न केवल अप्सराओं का समूह ही आश्चर्य से चकित हुआ अपितु स्वयं देवराज इन्द्र तथा नारद जी को भी उसके इस अडिग आत्मविश्वास पर विस्मय हुआ। अभी तक देवसभा में वपु अपने स्वभाव की गंभीरता तथा अलौकिक गुण, सौन्दर्य और यौवन के कारण ही ख्यात थी, अतः आज सब को उसकी इस अविवेकपूर्ण चपलता पर अविश्वास-सा हो रहा था। मेनका और रम्भा ने उसे रोकने का तथा समझाने-बुझाने का बहुतेरा प्रयत्न किया, किन्तु सब निष्फल रहा। वपु पर उनके अनुभव और आत्मीयता भरे उपदेशों का प्रभाव नहीं पड़ा। वह देवसभा से निकलकर हिमालय के मार्ग पर आगे बढ़ गई।

महामुनि दुर्वासा का तपोवन हिमालय की उपत्यका में सर्वप्रसिद्ध था। वहाँ पहुँचने में वपु को अधिक भटकना नहीं पड़ा। किन्तु उसे यह समझने में भी देर नहीं लगी कि रम्भा तथा मेनका की बातें कितनी सत्य थीं, और यहाँ आकर उसने अपने जीवन से कितना बड़ा खिलवाड़ किया है। किन्तु अब दुर्वासा के आश्रम से असफल वापस लौटकर देवसभा में मुँह दिखलाना वपु को कथमपि स्वीकार नहीं था। उसने तय कर लिया कि या तो दुर्वासा की तपस्या भंग होगी अथवा मेरा विनाश होगा।

दुर्वासा का तपोबल इतना दुर्घर्ष हो गया था कि उनके तपोवन के आस-पास ग्रीष्म के सूर्य की भाँति किसी को समीप जाने का साहस नही होता था। वन्य जीव-जन्तुओं में भी जैसे दुर्वासा का आतंक था और वे भी उस ओर आने-जाने में डरते थे।

निदान वपु को जब दुर्वासा की यह तेजस्विता ज्ञात हुई तो वह भी उनके आश्रम से कुछ दूर पर ही रुक गई और वहीं बैठकर मधुर गीत गाने लगी और नृत्य करने लगी। उसके मनोहर कण्ठ से निकली हुई स्वर लहरी और उसके नूपुरों की मादक झनकार से थोड़ी ही देर में दुर्वासा का

तपोवन व्याप्त हो गया और कुछ ही क्षणों के भीतर दुर्वासा की समाधि भी टूट गई। उन्हें आश्चर्य होने लगा कि इस प्रकार आज असमय में ही समाधि भंग होने का कारण क्या है? किन्तु आँखें खोलने के बाद ज्यों ही वह कुछ प्रकृतिस्थ हुए त्यों ही वपु के चराचर मोहक गायन और नर्तन की मधुर ध्वनि ने उन्हें बलात् अपनी ओर खींच लिया। वे यह बिना जाने ही कि किधर जाना है, थोड़ी ही देर में वपु की त्रैलोक्यमोहिनी रूप-राशि के सम्मुख चकित और विस्मित-से खड़े हो गये। उन्होंने वपु के अलौकिक और उन्मादी यौवन और सौन्दर्य को इस प्रकार देखा, मानों किसी रंक के सम्मुख सुवर्ण और रत्नों की राशि बिखरी हुई हो।

इस प्रकार अस्त-व्यस्त महामुनि दुर्वासा को अपने सम्मुख उपस्थित देखकर वपु का सहज आत्म-विश्वास पुनः जाग्रत हो गया और परमक्रोधी दुर्वासा के तपोबल का जो आतंक और भय छाया था, वह भी समाप्त हो गया। उसने अपने मदिर नेत्रों के किंचित् प्रहार से महामुनि के रहे-सहे विवेक और तप को और भी झंकृत कर दिया। अपने स्थान से हटकर वह महामुनि के नितान्त समीप आ गई और उनके सम्मुख पुनः अपना मोहक नृत्य आरम्भ कर दिया।

दुर्वासा की संचित तपोनिधि में ऐसे संकट का क्षण कभी नहीं आया था। अपने जीवन में अनेक वर्षों तक विविध प्रकार के व्रतों, उपवासों तथा जपों के कारण उन्होंने न केवल अपना शरीर ही सुखा डाला था, वरन् लौकिक इच्छाओं और ऐषणाओं का दलनकर उन्होंने अपने को ऐसा बना लिया था कि संसार में किसी से भी उन्हें भय नहीं था। स्वार्थ नहीं था और न कोई कामना थी। इस प्रकार मध्य मार्ग में फिसलने की स्थिति कभी आयेगी—ऐसा उन्होंने कभी सोचा भी नहीं था। वे वपु की ओर अपने आप खिसकते जा रहे थे कि यकायक उन्हें जोर का धक्का लगा। पूर्व संचित संस्कारों ने उन्हें ऐसा झटका दिया कि वे क्षणभर के लिए स्तम्भित-से हो गये। उनकी मनःस्थिति बदल गई, काम-विकार से दग्ध उनके नेत्रों से सहसा अंगार बरसने लगे। उनकी लोलुप जैसी मुखमुद्रा

प्रति क्रूर बन गई। नथुने फड़कने लगे और तपस्या से जर्जर शरीरयष्टि कांपने लगी। अपने दिव्य ज्ञान द्वारा उन्हें तत्काल ही देवसभा में देवराज और देवर्षि के सम्मुख की गई वपु की शर्तों का ज्ञान हो गया। उन्होंने अपने दाहिने हाथ को खड़ाकर वपु की नृत्य-क्रिया को स्तम्भित कर दिया जिसमे क्षण भर पूर्व उसके मुख से निकलने वाली संगीत लहरी भी स्वतः बंद हो गई। वपु को यह समझने मे देर नहीं लगी कि उसके जीवन का अन्त समीप है, क्योंकि उसने देखा कि उसके सम्मुख खड़े हुए महामुनि दुर्वासा में और महाकाल में कोई अन्तर नहीं रह गया है। वह अवसन्न होकर महामुनि के चरणों में गिरना ही चाहती थी कि बिजली की धारा के समान दुर्वासा तड़प कर कुछ दूर हट गये और हिमालय को प्रकंपित-से करते हुए क्रुद्ध स्वर में बोले—

'क्षुद्र अप्सरा! अपने सौन्दर्य और यौवन के गर्व में फूलकर तू मेरा तप नष्ट करने के लिए यहाँ तक चली आई—यह एक बड़ी दुर्घटना है। अपने मधुर संगीत और नृत्य के द्वारा तूने मेरे मन को विचलित कर दिया, यह तेरा महान् अपराध है, इसे मैं कदापि क्षमा नहीं कर सकता क्योंकि संचित तपोबल ही हमारा जीवन है। तेरी जैसी क्षुद्र अप्सरा के चरणों में अपनी जीवननिधि अर्पित कर मैं सदा के लिए अकिंचन बनने को तैयार नहीं हूं। अपने इस नीच कर्म का दुष्परिणाम भोगे बिना तेरा छुटकारा नहीं है। तू तैयार हो जा। अब इस धरती पर तेरा रक्षक कोई नहीं है।'

वपु ने अनुभव किया कि महामुनि दुर्वासा के इन जलते हुए शब्दों से हिमालय की वह उपत्यका भस्म-सी होने लगी, क्योंकि स्वयं उसका सारा शरीर दग्ध-सा होने लगा। वह महामुनि के सम्मुख नतशिर होकर भूमि पर गिर पड़ी, किन्तु उसके पास निवेदन के लिए कोई शब्द नहीं थे। दुःस्वप्न में आतंकित व्यक्ति की भाँति वह बहुत प्रयत्न करके भी कुछ बोल नहीं सकी। दुर्वासा फिर बोले—

'पापकर्मपरायणे! जा, तू अधम पक्षी की योनि में जन्म ले, जिससे तुझे अपने रूप और यौवन की कभी अनुभूति ही न हो।'

वपु उसी प्रकार धरती पर पड़ी रही। क्षण भर पूर्व का उसका लोक-विमोहक सौन्दर्य दुर्वासा की शापाग्नि में दग्ध होकर निःशेष बन चुका था। न अब वह संगीत लहरी कहीं सुनाई पड़ रही थी और न वह नूपुरों की ध्वनि थी। सम्पूर्ण तपोवन मानो 'त्राहिमाम्, त्राहिमाम्' करता हुआ वपु की ओर से क्षमा याचना कर रहा था। एक असहाय अबला पर किये गये अपने प्रचण्ड क्रोध का यह भीषण परिणाम देखकर दुर्वासा स्वयं सहम गए, उन्हें अनुभव हुआ कि अपराध की अपेक्षा दण्ड अधिक हो गया है। वे कुछ क्षण चुप रहे और फिर धीर-गम्भीर स्वर में बोले—

'वपु ! इस पक्षी योनि में तुझे सोलह वर्षों तक रहना पड़ेगा और तदनन्तर किसी अस्त्र या शस्त्र द्वारा निहत होकर तू पुनः स्वर्गलोक को प्राप्त करेगी। इस पक्षी योनि में तुझे चार पुत्र होंगे, किन्तु तुझे उन पुत्रों के साथ वात्सल्य-सुख का अनुभव करने का अवसर नहीं मिलेगा।'

इस प्रकार वपु को शाप-दग्ध करके दुर्वासा पुनः अपने आश्रम की ओर जब वापस हुए तो उनका अन्तःकरण प्रतिहिंसा की दुर्गन्धि से दूषित हो चुका था। दीर्घकालिक तपस्या की वह निर्मलता और शान्ति उनसे दूर हो चुकी थी, जिसकी प्राप्ति के लिए इतने दिनों से वह साधना-रत थे। आश्रम में लौटकर उन्होंने पुनः अपनी समाधि को लगाने का बहुतेरा प्रयत्न किया किन्तु असफलता ही हाथ लगी। ईर्ष्या और क्रोध से उनका हृदय जल रहा था। उन्होंने देखा कि ऊपर नभोमण्डल में अप्सराओं का वृन्द वपु के शोक से संतप्त हो रहा है और स्वयं देवर्षि नारद तथा देव-राज इन्द्र भी वपु के इस दुर्घटनापूर्ण अवसान पर दुःखित हैं।

दुर्वासा अपना हिमालय का तपोवन छोड़कर आकाशगंगा के तट पर चले गये क्योंकि उन्हें भूमण्डल भर में कहीं भी शान्ति नहीं दिखाई पड़ रही थी और उधर वपु का निश्चेष्ट शरीर भूमि पर अकेला पड़ा रह गया था।

दुर्वासा के शाप के अनुसार वपु का पुनर्जन्म गरुण के वंशज कन्धर नामक भार्दूल पक्षी के घर में हुआ। उसका नाम तार्क्षी रखा गया और

वय:प्राप्त होने पर वह मन्दपाल के पुत्र द्रोण के साथ ब्याही गई। अपने पूर्वजन्म के संस्कारों के अनुसार ताक्षी इस योनि में भी अपूर्व गुण और सौन्दर्य से युक्त थी। उसका कण्ठ बहुत सुरीला था और शरीर अपनी जाति के अन्य नारी पक्षियों से अधिक सर्वाङ्गसुन्दर और पुष्ट था।

द्रोण के साथ ताक्षी का अनन्य प्रेम था। इस प्रकार कुछ समय सुखपूर्वक दाम्पत्य जीवन बिताने के अनन्तर ताक्षी गर्भवती हो गई। अभी उसके उदर में साढ़े तीन महीने का ही गर्भ था कि वह एक दिन कुरुक्षेत्र के मैदान में घूमते-घामते जा पहुँची।

उस समय कुरुक्षेत्र में कौरवों और पाण्डवों का भयंकर युद्ध चल रहा था। सहस्रों वीर, हाथी, घोड़े प्रतिदिन मृत्यु को प्राप्त होकर रणभूमि में सोये हुए थे। चारों ओर भीषण हाहाकार मचा हुआ था। ताक्षी की समझ में यह बात नहीं आई कि यहाँ पक्षियों के जीवन को भी खतरा उपस्थित है। कुतूहलवश एक ऊँचे शमो वृक्ष की शाखा पर बैठकर वह युद्ध का रोमांचकारी दृश्य देखने लगी। उस दिन पाण्डव वीर अर्जुन का भगदत्त के साथ भयंकर युद्ध चल रहा था। दोनों ओर से वाणों की ऐसी वर्षा हो रही थी कि आकाश में चर्तुदिक वाण ही वाण दिखाई पड़ रहे थे। थोड़ी देर में लड़ते हुए वे दोनों वीर जब ताक्षी के आश्रय भूत वृक्ष के बहुत समीप आ गये तो उसे सब दृश्य बहुत साफ-साफ दिखाई पड़ने लगा। किन्तु इसके एक ही क्षण बाद एक विष बुझे बाण की नोक ताक्षी के पेट में ऐसी घुस गई कि वह वृक्ष की शाखा से उड़कर जैसे ही भागने को उद्यत हुई कि वृक्ष से थोड़ी ही दूर पर नीचे गिर पड़ी।

असह्य पीड़ा के कारण ताक्षी चीत्कार करने लगी, किन्तु उसकी रक्षा करने वाला वहाँ कौन था? थोड़ी ही देर में उसका पेट फट गया और उसके भीतर से श्वेत रंग के चार अण्डे निकलकर बाहर आ गये। ताक्षी का इसी बीच प्राणान्त हो गया किन्तु उसने अन्त समय में देखा कि उसके उन चारों अण्डों पर ठीक उसी समय एक गजराज का बहुत बड़ा घण्टा

ऐसे आकर गिर पड़ा कि उनमें से एक अण्डा भी नहीं फूटा और घण्टा अपने भार के कारण जमीन के पाँच-छः अंगुल भीतर घुस गया। वह वृहत् घण्टा सुप्रतीक नामक गजराज के कण्ठ में बँधा हुआ था और अर्जुन के बाणों से कटकर जमीन पर गिरा था।

उस अति जन-संकुल महायुद्ध में गजराज के उस घण्टे को उठाकर फेंकने की फुर्सत किसे थी? वह ज्यों का त्यों पड़ा रह गया और उस के कारण ताक्षी के वे चारों अण्डे सुरक्षित बचे रह गये। जब महाभारत का युद्ध समाप्त हो गया और कुरुक्षेत्र में चतुर्दिक शान्ति छा गई तो एक दिन शमीक नाम के एक ऋषि कुरुक्षेत्र को देखने के लिए वहाँ आये। चारो ओर शस्त्रास्त्रों से तथा मरे हुए हाथी-घोड़े और नर कंकालों से भरी हुई कुरुक्षेत्र की समूची धरती पर उस समय अद्‌भुत निर्जनता तथा शान्ति थी। न कहीं कोई शब्द था न कोई व्यापार। शमीक ऋषि जैसे ही इस घण्टे के समीप पहुँचे वैसे ही उन्हें घण्टे के भीतर से पक्षियों के बच्चों की चहचहाने की आवाज सुनाई पड़ी। वे रुककर चारों ओर देखने लगे तो ज्ञात हुआ कि घण्टे के भीतर से ही वह आवाज आ रही है। उन्होंने घण्टे को उठाकर ज्यों ही अलग किया त्यों ही उसके नीचे पड़े हुए ताक्षी के वे चारों बच्चे और जोर-जोर से बोलने लगे। उन बच्चों को अभी तक पंख नहीं निकले थे। यद्यपि आँखें ठीक थीं तथापि जन्म-काल से अब तक निविड़ अन्धकार में रहने के कारण उन्होंने आँखों को मूँद लिया था। वे थोड़ी ही देर में घण्टे की परिधि से बाहर निकलकर घूमने लगे और उनकी आँखों की रोशनी भी ठीक हो गई थी।

शमीक ऋषि ने प्रेमवश उन चारों बच्चों को अपने हाथों पर उठा लिया और विधाता की इस विचित्र गति पर विस्मय करते हुए उन्होंने कहा—'असंख्य वीरों, रथों, हाथियों और घोड़ों की खुरों से पीड़ित इस कुरुक्षेत्र की धरती पर पक्षी के इन चारों बच्चों का जीवन सुरक्षित रखने वाले विधाता! तुम धन्य हो। तुम्हारी गति अपार है। भला इस अन्धकार से पूरित घण्टे के भीतर इन बच्चों का पालन-पोषण इतने दिनों तक

किसने किया ! सच है, तुम जिसे जीवित रखना चाहते हो, उसे कोई मार नहीं सकता, और जिसे मारना चाहते हो, उसकी कोई रक्षा नहीं कर सकता ।'

दिव्य दृष्टि द्वारा शमीक ऋषि को इन बच्चों के उद्भव और विकास की जब पूरी जानकारी हो गई तो वे उन्हें उठाकर अपने आश्रम को ले गये और तभी से उनके द्वारा प्रचारित यह विचित्र कथा भारतीय उपाख्यानों में आदरणीय वस्तु बन गई ।

ऐसी प्रसिद्धि है कि वपु को शापदग्ध करने के अनन्तर महामुनि दुर्वासा को फिर से शान्ति नहीं मिली और वे जीवन भर अपने ही अमर्ष तथा क्रोध की ज्वाला में जलते रहे ।

शनैश्चर पर अभियान

गत भूभौतिक वर्ष में नक्षत्र-मण्डलों अथवा खगोल के अनुसंधान की दिशा में अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य हुए हैं। एटम एवं हाइड्रोजन बम के अनन्तर स्पुतनिक तथा आकाश में हजारों मील जाने वाले राकेट के प्रक्षेप की घटनाएँ इस युग में विशेष महत्त्व रखती हैं, और आशा है, निकट भविष्य में ऐसी अनेक घटनाओं की मालाएँ प्रकाश में आयँगी। किन्तु आधुनिक विज्ञान की ये घटनाएँ अतीत में भी किसी प्रकार से घटित हुई थीं।

पुराणों में नक्षत्रमण्डलों की स्थिति और दूरी के सम्बन्ध में अनेक रोचक कल्पनाएँ की गई हैं। फलित ज्योतिष के अनुसार तो इन सभी ग्रह-नक्षत्रों की गति तथा अवस्थिति का भूमण्डल और उसके निवासियों के जीवन पर गंभीर प्रभाव पड़ता है। चन्द्रमा और सूर्य का प्रभाव तो हम सभी अनुभव करते हैं किन्तु अन्य ग्रहों के प्रभाव के सम्बन्ध में शास्त्रकारों अथवा वैज्ञानिकों के कथन ही प्रमाण हैं। शनैश्चर इन सभी ग्रहों में सर्वाधिक क्रूर तथा दीर्घकालव्यापी प्रभाव डालने वाला कहा जाता है। ज्योतिष शास्त्र में तो इसकी अवस्थिति का प्रभाव साढ़े सात वर्ष का माना जाता है। यह प्रत्येक राशि पर ढाई वर्ष रहता है। और एक राशि पूर्व तथा एक राशि पश्चात् तक इसका प्रभाव पड़ता है। फलतः हमारे देश के लाखों धार्मिक व्यक्ति प्रति वर्ष शनि की साढ़ेसाती के प्रभाव की बाधा अनुभव करते हैं और उसके शान्त्यर्थ शास्त्रानुमोदित उपाय करते हैं।

पुराणों में तथा धर्मशास्त्र ग्रंथों में शनि की अनेक रोचक तथा रोमांचकारी कथाएँ दी गई हैं। उनके अनुसार इनका स्वरूप अत्यन्त जटिल, भयंकर तथा कुदर्शन है। इनके मस्तक पर जाज्वल्यमान जटा है और कृष्ण वर्ण के विकराल शरीर का अंग-प्रत्यंग कुंचित रोमावली से आकीर्ण

है। जब यह किसी की ओर दृष्टिपात करते हैं तो आग की लपटें उठ पड़ती हैं। और जब मुस्कराते हैं तब भी चराचर में कम्पन होने लगता है। इनका प्रिय कोई नहीं है। दैत्य और दानव सभी इनके कोप भाजन हैं। यह दूसरी बात है कि इन्हें दबाकर या प्रसन्न करके कोई अपना अभीष्ट साधन करा ले।

ऐसे क्रूरकर्मी एवं अहैतुक विनाशकारी ग्रह पर प्राचीन काल में अनेक बार आक्रमण भी हुए हैं और अनेक बार इनके प्रभाव को धर्षित भा किया गया है, किन्तु फिर भी उनकी तेजस्विता और अनुपकारिता में कोई कमी हुई है—यह नहीं कहा जा सकता। ऐसी ही एक पौराणिक अन्तर्कथा का संक्षेप पद्मपुराण से यहाँ उद्धृत किया जा रहा है।

जिस समय भूमण्डल पर रघुवंश के प्रतापी सम्राट दशरथ जी अयोध्या में राज्य कर रहे थे, उस समय एक बार ज्योतिषियों ने उन्हें बताया कि—'महाराज ! सूर्य पुत्र शनैश्चर अब कृत्तिका नक्षत्र के अंतिम चरण में आ गये हैं और शीघ्र ही वे रोहिणी का शकट भेदन करके आगे बढ़ने वाले हैं। भूमण्डल के लिए यह एक भयंकर दुर्योग होगा क्योंकि अतीत में इस दुर्योग के कारण चराचर पर घोर विपत्तियाँ आ चुकी हैं। सातों द्वीपों में इस दुर्योग का अमोघ प्रभाव पड़ता है महाराज ! अतः आप समय रहते ही इस दुर्योग का निवारण करने की कृपा करें अन्यथा चरा-चर भस्म हो जायगा।'

महाराज दशरथ ज्योतिषियों की इस अमंगल सूचना से चिन्तित हो गये। कुछ क्षण चुप रहकर बोले—'दैवज्ञगण ! शनैश्चर की अवस्थिति आकाश में है। वह भास्कर का पुत्र है और अपने क्रूर कर्मों के कारण सूय से बढ़ कर संतापक है। भला उसकी गति का नियंत्रण हम भूमण्डल-वासी कैसे कर सकते हैं ? यह तो बड़ी चिन्ता का विषय है।'

दैवज्ञगण चिन्तित थे। उन्होंने कुलगुरु वसिष्ठ से इस महान् संकट से त्राण पाने का उपाय बताने की प्रार्थना की। वसिष्ठ जी त्रिकालदर्शी थे। उनकी अगाध विद्या, बुद्धि, तपस्या और साधना के सम्मुख संसार का

कोई भी विषय दुर्ज्ञेय नहीं था। उन्होंने दशरथ जी को उत्तेजित करते हुए कहा—

'सम्राट् ! आप पर भूमण्डल के सभी जीवों की रक्षा का दुर्वह भार है। सातों द्वीपों की जनता की जीवन-रक्षा का दायित्व आप पर है। रोहिणी प्रजापति ब्रह्मा का नक्षत्र है। क्रूर दृष्टि शनि यदि इसका भेदन कर देगा तो सृष्टि का बहुलांश भस्म हो जायगा। फिर तो ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्रादि भी उसकी रक्षा नहीं कर सकेंगे। अभी समय है, जब आप इस महान् दुर्योग से चराचर की रक्षा कर सकते हैं।

'इस धरती पर ऐसी कोई कला और विद्या नहीं है जो आपको न ज्ञात हो। आपके रथ की जल, स्थल और आकाश में समान गति है, आप आकाश-मण्डल में अवस्थित सूर्य, चन्द्र एवं शनि आदि की गति का नियंत्रण कर सकते हैं। आपके लिए यह कार्य कुछ भी असाध्य नहीं है राजन् !'

गुरुवर वसिष्ठ की प्रेरक वाणी ने सम्राट् दशरथ को उद्बुद्ध कर दिया। उनके बलवान शरीर में विद्युत गति-सा तेज दौड़ने लगा। राज-सभा समेत दैवज्ञों को सान्त्वना देते हुए स्फीत स्वर में उन्होंने कहा— 'शनैश्चर की इस क्रूर गति का नियंत्रण करने के लिए मैं शीघ्र ही नभो-मंडल पर अभियान करूँगा। आप लोग निश्चिन्त रहें। अपनी प्रजा की दुर्गति को देखने के पूर्व ही दशरथ का जीवन समाप्त हो जायगा।'

× × ×

गुरुवर वसिष्ठ द्वारा बताये गये मंगल मुहूर्त में सम्राट् ने जब नभो-मण्डल की अपनी अभियान-योजना का आरम्भ किया तो चराचर में अपार हर्ष की लहरें दौड़ गयीं। पर्वतों ने शिखर हिलाकर तथा समुद्रों ने लहर-रूपी बाहुओं से राजा के इस महान् एवं मांगलिक संकल्प का अभि-नन्दन किया। भूमंण्डल में सम्राट् की मंगलाकांक्षा के निमित्त विविध प्रकार के यज्ञ-यागादि किये गये और उत्सव मनाये गये। भूमण्डल की शुभाकांक्षाओं ने महाराज दशरथ के संकल्प को अडिग बना दिया।

शुभ दिन में अरुणोदय से पूर्व ब्राह्म बेला में अयोध्या से प्रस्थान कर मध्याकाश में पहुँच कर सम्राट् ने अपने कुलदेवता सूर्यनारायण का अभिवादन और स्तवन किया तथा उन्हीं से उनके पुत्र शनि की अनिष्टकारी गति को अवरुद्ध करने का वरदान प्राप्त किया। अपने तपोबल द्वारा अर्जित सहस्रों अलौकिक शस्त्रास्त्रों से उनका तेज सूर्य नारायण को भी हतप्रभ कर रहा था और उनके इस अभियान की बेला में सम्पूर्ण त्रिलोकी उनके कल्याणार्थ शुभकामना प्रकट कर रही थी।

रोहिणी पृष्ठ सूर्यमण्डल से सवा लाख योजन ऊपर अवस्थित है। शनि की गति को खर्वित करने के लिए सम्राट् ने अपने कुलदेवता सूर्य के मण्डल के समीप पहुँचकर अपना दिव्य रथ रोक दिया और वहीं से शनि के ऊपर अपने अमोघ संहारास्त्र का संधान करने का उपक्रम किया। सम्राट् का वह संहारास्त्र अभी तक कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ था। देवता और असुर सब के लिए वह परम भयंकर था। उसके संधान के लिए समुद्यत सम्राट् को देखकर थोड़ी देर के लिए शनि विकम्पित हो गये, क्योंकि उसके अमोघ प्रभाव की चर्चा से वह पूर्व परिचित थे।

भय मिश्रित स्वर में राजा को प्रसन्न करने की चेष्टा करते हुए शनि ने कहा—'राजेन्द्र! निश्चय ही तुम्हारा यह पुरुषार्थ त्रिभुवन में अनुपम है क्योंकि अभी तक मेरे कक्ष में आने वाले दैवता, असुर, मनुष्य, सिद्ध, विद्याधर, गन्धर्व और नाग सभी भस्म होते रहे हैं किन्तु तुम यहाँ आकर भी सकुशल हो। मेरे तेज को प्रर्धषित करने वाले तुम्हारे दिव्यास्त्र की चर्चा मैं सुन चुका हूँ किन्तु मैं चाहता हूँ कि तुम इसका प्रयोग किसी ऐसे कार्य के लिए करो, जिससे सबका कल्याण हो। मैं इसका संधान किये बिना ही तुम्हारी अभिलाषा की पूर्ति करना चाहता हूँ। वर माँगों, अपने मन से तुम जो कुछ भी चाहोगे, उसे मैं अवश्य दूँगा।'

सम्राट् दशरथ शनि की इस विनीत वाणी को सुनकर परम प्रसन्न हुए। शनि का अभिवादन करते हुए वह बोले—'शनिदेव! मैं केवल

जगती के कल्याणार्थ अपने इस त्रिभुवन दुर्लभ अस्त्र का संधान आप पर कर रहा था। व्यर्थ ही आपको प्रघर्षित करने का मेरा इरादा नहीं था। आप मुझे क्षमा करें। यदि आप सचमुच मुझ पर प्रसन्न हैं तो मेरी अभिलाषा पूरी करें। देव ! मैं चाहता हूँ कि जब तक धरती पर नदियाँ और समुद्र हैं, चन्द्रमा और सूर्य हैं, नक्षत्र-मण्डल, पर्वत और जंगल हैं, पृथ्वी में क्षमता, वायु में गति तथा अग्नि में दाहकता है तब तक आप रोहिणी का भेदन करके आगे न बढ़ें और पृथ्वी पर कभी भी बारह वर्षों की अनावृष्टि न हो।'

शनि ने राजा को प्रसन्न करते हुए कहा—'सम्राट् ! तुम्हारी ये दोनों बातें मुझे स्वीकार हैं। बताओ इनके अतिरिक्त भी तुम्हें कुछ माँगना है।'

राजा बोले—'देव ! मैं अपनी आँखों से आपका दर्शन करना चाहता हूँ। क्योंकि यद्यपि मैं अपने मंत्रबल से आपके बहुत समीप पहुँच चुका हूँ किन्तु मेरी आँखें अब भी आपके अंग-प्रत्यंगों का दर्शन करने में अक्षम सिद्ध हो रही हैं।'

शनि बोले—'राजन् ! किसी मानव-जन्मा के लिए तो दूर देवता और असुरादि भी हमारा दर्शन नहीं कर सकते किन्तु मैं तुम्हारे नेत्रों में वह शक्ति प्रदान करता हूँ, जिससे तुम मुझे भली-भाँति देख सकते हो। किन्तु साहस न भूलना, धैर्य के साथ अवस्थित रहना।'

शनि के ऐसा कहते ही सम्राट् ने अनुभव किया कि उनकी आँखों में भयंकर दाहक ज्वाला के समान एक ज्योति रेखा ने तत्क्षण प्रवेश किया और उनके नेत्रों के सम्मुख कुछ दूरी पर शनि का भयंकर स्वरूप स्पष्ट दिखाई पड़ने लगा। उन्होंने देखा, एक विशाल कंकाल के समान अति भयंकर आकृति सामने खड़ी है। उसका मुखमण्डल अतीव विरूप, दुर्दान्त तथा क्रूर है। उस पर सघन दाढ़ी-मूँछ तथा जटाओं की केशराशि बेतर-तीबी से बिखरी हुई है। विशाल सूखे सरोवर के समान रिक्त अधो-मुखी आँखों में अग्नि की ज्वाला के समान रक्तवर्ण की ज्योति है। मुख-

मण्डल के निम्नभाग में वक्षस्थल पर मोटी-मोटी हड्डियाँ निकली हुई हैं, जिन पर केवल चमड़ी लिपटी है, मांस-पेशियों का निशान भी नहीं है। पेट तो जैसे है ही नहीं, पीठ से उसको अलग मानना नेत्रों का कोरा भ्रम था। समग्र वक्षस्थल और उदरभाग पर लताओं के समान मोटी एवं दीर्घ रोमावली फैली हुई है। कटिभाग, जानु तथा जघनस्थल भी भारी हड्डियों के समूह के सिवा कुछ नहीं हैं और खड़े होने की भंगिमा ऐसी है, मानों त्रिभुवन को उदरस्थ करने के लिए वह कृतसंकल्प हैं।

शनि की दाहक ज्वाला से संतप्त सम्राट् दशरथ भयातुर हृदय से शनि के सहज कुटिल चरणों पर दृष्टि रखने ही जा रहे थे कि इसी बीच शनि को जंभाई आ गई। अपने भयंकर मुख और नेत्रों को फैलाकर और ऊपर की ओर कुंचित करके उन्होंने जैसे ही श्वास खींची तैसे ही सम्राट् को अनुभव हुआ कि उनका रथ शनि की ओर खिचता चला जा रहा है और देखते ही देखते रथ के घोड़ों की रश्मियाँ जल कर नीचे गिर पड़ी हैं।

गुरुवर वसिष्ठ द्वारा प्रदत्त मंत्रबल से अपने को किंचित् स्थिर करते हुए सम्राट् ने देखा कि शनि की भयंकर दाढ़ों में यमराज, कालिय नागराज और अग्नि की दाढ़ों से भी बढ़कर भयंकरता है। उनकी विकराल भ्रुकुटियों से ढंकी आँखें यद्यपि अधोमुखी हैं किन्तु उतने से ही रथ के श्वेत घोड़े कृष्णवर्ण के होते जा रहे हैं। वे किंचित क्षणों के लिए अवसन्न हो हो गये और फिर शनि की स्तुति करते हुए उनसे अपना यह भयावह स्वरूप संवरण करने की प्रार्थना करने लगे।

उन्होंने कहा—'देव! आप सर्वसमर्थ हैं, आप घोर, रौद्र, भीषण और विकराल हैं। भास्कर पुत्र! आपका प्रतीक स्वरूप ही हमें मान्य है, जो खड्ग के समान हमारी सारी आपदाओं को काटने वाला है। मन्दगते! आपने अपनी उग्र तपस्या और साधना से अपने शरीर की जो दुर्गति की है वह त्रिभुवन में आपको छोड़कर अन्यत्र दुर्लभ है। आप सन्तुष्ट होकर सर्वस्व दे देते हैं किन्तु आपके क्षणिक रोष से ही देवासुर का सर्वस्व स्वाहा हो जाता है। देव! आप मुझे क्षमा करें, अज्ञानवश

मैंने आपकी जो अवज्ञा की है, उसे भूल जायें और मुझे अपनी शरण में ले लें।'

सम्राट् की स्तुति से सुप्रसन्न शनि ने राजा को अभयदान करते हुए अपनी तीक्ष्ण नेत्र-ज्योति अपहृत कर ली और अन्तर्धान होकर उन्हें पुनः वर माँगने का आदेश किया।

राजा अनुग्रह के स्वर में बोले—'देव ! मेरी अन्य प्रार्थना यह है कि आज से आप देवता, असुर, मनुष्य, पशु, पक्षी तथा नागादि किसी भी प्राणी को पीड़ा न दें।'

शनि बोले—'राजन् ! आपकी प्रार्थना मैं स्वीकार करता हूँ, किन्तु कहीं न कहीं तो मुझे अपनी अवस्थिति रखनी ही होगी। अतः मैं देवता असुर, मनुष्य, सिद्ध, विद्याधर, गन्धर्व तथा राक्षस—इनमें से किसी के भी मृत्युस्थान अर्थात् आठवें, या जन्मस्थान अथवा चतुर्थ स्थान में रहूँ तो उसे अवश्य कष्ट दे सकता हूँ। किन्तु तुम्हारी प्रार्थना के अनुसार मैं यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि जो प्राणी श्रद्धा से युक्त होकर, पवित्र मन और वाणी से एकाग्र चित्त होकर मेरी लौहमयी प्रतिमा का शमी-पत्रों से पूजन करके तिलमिश्रित उड़द, चावल, लोहा, काली गौ या काले वृषभ का सत्पात्रों में दान करेगा उस पर मैं सन्तुष्ट होकर समृद्धियों की वर्षा करूँगा। उसे मैं कभी भी पीड़ा नहीं दूँगा।'

सफल मनोरथ सम्राट् दशरथ शनि को प्रणाम कर उनकी कृपा से सकुशल अपनी राजधानी अयोध्या को वापस लौट आये। और उनके तपोमय पौरुष और प्रयत्नों से धरती का यह अमंगल सदा के लिए दूर हो गया।

विभाण्डक का पुत्र-हरण

प्रजापति ब्रह्मा के पुत्र महर्षि कश्यप के वंश में विभाण्डक नामक एक परम तेजस्वी ऋषि थे। उनका शरीर कामदेव के समान परम तेजस्वी तथा सुन्दर था। उनके अंग-प्रत्यंग मानों सुन्दरता के नमूने थे। नव-यौवन के आरम्भ में विभाण्डक के सुन्दर शरीर को देखकर मनुष्य तो दूर पशु-पक्षी भी मोहित हो जाते थे किन्तु विभाण्डक को इसका ध्यान भी नहीं था। अपने स्वाध्याय, तपस्या और ब्रह्म-चिन्तन में वे रात-दिन लीन रहते थे। दुःखमय संसार के कष्टों से सदैव के लिए छुटकारा पाने की उतावली में मानों उन्हें अपने शरीर की भी चिन्ता नहीं थी।

एक बार विभाण्डक ने एकान्त तपोवन के एक गहरे जल-कुण्ड में प्रविष्ट होकर कठोर तपस्या की। कई महीनों तक उन्होंने न तो भोजन किया और न शयन। किन्तु इस क्लेश के अनन्तर भी उनके तेजस्वी मुख-मण्डल की शोभा क्षीण नहीं हुई। विभाण्डक के इस कठोर तप की चर्चा स्वर्ग लोक में भी होने लगी। एक बार उनके तपोवन के समीप देवांग-नाओं का समूह जल-क्रीड़ा में मग्न था। विभाण्डक ऊर्वशी पर लुब्ध हो गये और ऊर्वशी भी उनके देवोपम स्वरूप पर अपने को भूल गई।

विभाण्डक को ऊर्वशी के संयोग से एक परम तेजस्वी तथा उन्हीं के समान सुन्दर पुत्र पैदा हुआ। किन्तु पुत्रोत्पत्ति के कुछ ही दिनों बाद ऊर्वशी को विभाण्डक के तपोवन से चला जाना पड़ा क्योंकि देवराज इन्द्र की सभा में उसकी उपस्थिति अनिवार्य थी। फलतः विभाण्डक ने अपने प्यारे पुत्र का लालन-पालन हरिणियों के दूध से किया। ऐसे अनुपम सुन्दर तथा तेजस्वी बालक को पाकर विभाण्डक धीरे-धीरे ऊर्वशी को भूल गये और अपना सारा समय तप एवं स्वाध्याय के अनन्तर उसी के पालन-पोषण में लगाने लगे।

एकान्त तपोवन में उस परम तेजस्वी बालक ने मृगों के छौनों के संग खेलना-कूदना सीखा। उन्हीं के संग वह दिन भर रहता और रात को सोता। उसने अपने पिता को छोड़कर कोई दूसरा मनुष्य नहीं देखा। जब वह कुछ बड़ा हुआ और हरिणियों के बच्चों की तरह उसके सिर पर सींग नहीं निकले तो उसने अपने सिर पर उन्हीं के समान सींग लगा लिये क्योंकि वह उसे अच्छे लगते थे। इसी कारण उसका नाम ऋष्यश्रृंग पड़ा, जिसका अर्थ है सींगों वाला ऋषि। कुछ और बड़े होने पर ऋष्यश्रृंग का जीवन भी अपने पिता के समान सदैव स्वाध्याय, तपस्या एवं ब्रह्मचर्य में लगा रहा। यद्यपि वह भी अपने पिता एवं माता के समान अनुपम सुन्दर था और नवयौवन ने उसकी सुन्दरता को और भी निखार दिया था फिर भी वह अपने तन-मन की ओर से सदैव निरपेक्ष रहता था। वनों में चरने वाली हरिणियाँ और उनके बच्चों के संग वह बाहरी संसार से एकदम विरक्त रह कर जप-तप एवं स्वाध्याय के द्वारा अपना जीवन बड़े आनन्द और प्रेम से बिता रहा था।

महर्षि विभाण्डक का तपोवन अंग देश की सीमा पर था, जहाँ के राजा लोमपाद अवध नरेश दशरथ के अनन्य मित्र तथा परम तेजस्वी शासक थे। राजा लोमपाद को निस्सन्तान देखकर राजा दशरथ ने अपनी कन्या शान्ता को उन्हें ही दे दिया था, जो विद्युल्लेखा के समान सुन्दरी और चंचला थी।

राजा लोमपाद का स्वभाव बहुत चिड़चिड़ा था। एक बार किसी कारण वश उनका अपने पुरोहित से तीव्र विवाद हो गया। राजा ने भरे दरबार में पुरोहित का कठोर अपमान किया, जिससे उसके राज्य के सभी ब्राह्मण राजा के विरोधी बन गये। संयोगात् इस घटना के कुछ ही दिनों बाद अंग देश में भयंकर अकाल पड़ा। कई महीने बीत गए वृष्टि नहीं हुई और सारी की सारी कृषि नष्ट हो गई। वृक्ष, लताएँ, नदियाँ और सरोवर सभी सूख गये तथा चारों ओर हाहाकार मच गया। प्रजा में जब

अशांति और पीड़ा बहुत बढ़ने लगी तो राजा ने अपने मंत्रियों से इस कष्ट के निवारण का उपाय पूछा।

मंत्रियों ने यज्ञ द्वारा देवराज इन्द्र को प्रसन्न करने में समर्थ कुछ ब्राह्मणों को राज्य के बाहर से बुलाकर उनसे राजा की भेंट कराई। प्रजावर्ग में बढ़ती हुई अशान्ति और अपनी अप्रतिष्ठा से राजा लोमपाद को बड़ी चिन्ता थी क्योंकि कई महीनों से पुरोहित के अपमान के कारण उनके यहाँ न तो कोई ब्राह्मण जाता था और न यज्ञादि कार्य ही हो पाते थे। राजा ने उन विद्वान् ब्राह्मणों का बड़ा सत्कार किया और उनसे अपने राज्य में बढ़ी हुई विपदा को दूर करने का उपाय पूछा।

ब्राह्मणों ने राजा से अपने पुरोहित को मनाने के साथ ही यह भी बताया कि जब महर्षि विभाण्डक के पुत्र ऋष्यश्रृंग आपकी राजधानी में आयेंगे, तभी वर्षा होगी। इन दोनों उपायों के बिना आपके राज्य में वर्षा का कोई योग नहीं है।

राजा लोमपाद ने अपने मंत्रियों के संग अपने पुरोहित के घर जाकर उनसे क्षमा माँगी। प्रायश्चित्त किया और उन्हें प्रचुर दक्षिणा देकर सुप्रसन्न किया, जिससे अंग देश के दुःखी प्रजावर्ग में आनन्द की लहर फैल गई और सब ने एक स्वर से राजा का जज-जयकार किया। अब ऋष्यश्रृंग को राजधानी में लाने के लिए सभी उपाय सोचने लगे। राजा को ज्ञात हुआ कि विभाण्डक के पुत्र ऋष्यश्रृंग यद्यपि किशोरावस्था पार कर चुके हैं किन्तु अभी तक उन्होंने अपने पिता को छोड़ कर कोई दूसरा मनुष्य नहीं देखा है। वे रात-दिन जप-तप एवं स्वाध्याय में लगे रहते हैं और महर्षि विभाण्डक रात-दिन उनकी रक्षा करते रहते हैं। पिता-पुत्र दोनों ऐसे तेजस्वी, वीतराग और तपस्वी हैं कि बाहरी दुनिया से सम्पर्क रखने की उन्हें कोई आवश्यकता नहीं है। वे तो जैसे जीवन भर उसी तपोवन में रहने के लिए कृतसंकल्प हैं।

राजा लोमपाद के मंत्रिगण नीति शास्त्र के पारंगत थे। उन्होने रूप और गुण में अद्वितीय, दूसरों को मोह लेने की कला में कुशल अपने राज्य

की प्रमुख वेश्याओं को बुलवाया और उन्हें राजा के सामने प्रस्तुत कर इस कठिन कार्य को पूरा करने का भार सौंप दिया। वेश्याएँ संसार के अनुपम तेजस्वी एवं सुन्दर विभाण्डक और उनके पुत्र के तपः तेज से सुपरिचित थीं। इस भयंकर कार्य को सुनते ही उनका मुख पीला पड़ गया। शाप-भय से वे मूर्च्छित-सी हो गईं। किन्तु राजा ने उन्हें बड़ा प्रलोभन एवं आश्वासन दिया।

एक बूढ़ी वेश्या के विश्वास दिलाने पर सभी वेश्याएँ तैयार हो गईं और उसकी इच्छा के अनुकूल राज्य की ओर से यात्रा की सारी सुविधा दी गई। वे सभी वेश्याएँ देवांगनाओं की भाँति यौवन और सुन्दरता की मोहक मर्यादा थीं। उस वृद्ध वेश्या ने विभाण्डक के आश्रम के समीप पहुँच कर एक बहुत बड़ी नाव पर तपस्वियों के समान सुन्दर आश्रम की रचना की। भाँति-भाँति के मनोहर पुष्पों और फलों से सुशोभित कृत्रिम वृक्षों से उसे सजा दिया। उस पर ऐसे लता, गुल्म और कुंज सजाये, जैसे नन्दन वन में होते थे। सुन्दर, सुरीले पक्षियों के कलरव से वह छोटा-सा आश्रम ऐसा बन गया था जैसा त्रैलोक्य में दुर्लभ था।

वृद्धा वेश्या ने गुप्तचरों द्वारा विभाण्डक और ऋष्यशृंग की दिन-चर्या को ज्ञात कर एक दिन ऊर्वशी के समान सुन्दरी अपनी युवती पुत्री को खूब सजा-बजा कर ऋष्यशृंग के पास भेजा और उसे सहेज दिया कि अमुक घड़ी तक वह विभाण्डक को यदि न मोह लेगी तो उसका वेश्या-पुत्री होना व्यर्थ है। वृद्धा वेश्या की वह पुत्री रूप और गुण में ही नहीं बुद्धि में भी अपनी माता के समान थी। ऋष्यशृंग के समीप पहुँचते ही उसने ऐसे हाव-भाव दिखाये कि वह अपनापा खो बैठे। उन्होंने आज तक ऐसा सुन्दर स्वरूप, ऐसी मीठी वाणी और ऐसे मृदु व्यवहार का अनुभव ही नहीं किया था। वेश्यापुत्री ने जब उनसे उनके और उनके तेजस्वी पिता एवं आश्रम का कुशल-क्षेम पूछा तो वे गद्गद् होकर उसके लिए अर्घ्य पाद्य की व्यवस्था करने के लिए उठ पड़े और उसके बैठने के लिए अपने पिता की संध्या-पूजा में प्रयुक्त होने वाला कृष्ण-मृग-चर्म बिछा दिया।

वेश्यापुत्री ने ऋष्यश्रृंग का गाढ़ आलिंगन किया, उन्हें विविध प्रकार के सुस्वादु फल एवं मिष्ठान्न दिए तथा पेय पिलाये और उन्हें ऐसा मोहित किया कि वे अपने शरीर, आश्रम और पिता की भी सुधि-बुधि भूल बैठे। वेश्यापुत्री ने उनसे बताया कि वह भी उन्हीं के समीप एक आश्रम में रहती है जहाँ ऐसे ही मनोहर फल, मिष्ठान्न एवं पेय मिलते हैं। यदि वह भी उसके आश्रम को चलें तो वह परम कृतार्थ हो।

ऋष्यश्रृंग उस वेश्या की अलौकिक वेश-भूषा, रूप-माधुरी, मीठी वाणी, नृत्य, हाव-भाव, संगीत, सुस्वादु फल, मिष्ठान्न और पेय को पाकर निहाल हो उठे और वे उसके संग उसी तरह निःसंकोच क्रीड़ा करने लगे जैसे मृगी के छौनों के साथ खेलते थे। कभी उसका आलिंगन करते और चुम्बन लेते, तो कभी उसके साथ कन्दुक खेलते। संसार का कोई अनुभव तो उन्हें था नहीं। उन्हें मोहित करने के लिए वेश्या ने उनके अंगों को अपने अंक-पाश में भरकर अनेक प्रकार से ऐसा दबाया कि वह यह भी नहीं जान सके कि यह सब क्या हो रहा है। और यह स्त्री है या पुरुष।

विभाण्डक के आने का समय समीप जानकर वह सुन्दरी वेश्या अग्नि-होत्र का बहाना लेकर उनके आश्रम से जब चली गई तो ऋष्यश्रृंग उसके वियोग में मूर्च्छित हो गये। प्रति दिन की भाँति आश्रम में आते ही विभाण्डक ने जब अपने पुत्र को पुकारा तो उन्हें कोई जवाब नहीं मिला। इधर-उधर देखने पर भी जब उन्हें ऋष्यश्रृंग कहीं नहीं दिखाई पड़े तो वे चिन्तित होकर उन्हें ढूँढ़ने निकले। थोड़ी ही दूर आगे बढ़कर उन्होंने देखा कि वे विक्षिप्त-से ऊपर की ओर आँखें किये हुए बार-बार उच्छ्वास ले रहे हैं, उनका शरीर रोमांचित और पसीने से लथपथ है। दीर्घायत नेत्रों में रक्तिम रेखाएँ उभड़ी हैं और हृदय धड़क रहा है। पुत्र की यह अपूर्व दशा देखते ही विभाण्डक चिन्तित हो गये। उन्होंने कमण्डलु के शीतल जल से पुत्र को सचेत करके उसकी इस अवस्था में पहुँचने का कारण पूछा। ऋष्यश्रृंग बोले—

'पूज्य तात ! आज यहाँ एक जटाधारी ब्रह्चारी आया था। वह न तो बहुत छोटा था न बड़ा। उसके शरीर की कान्ति सुवर्ण के समान थी। उसके नेत्र रक्त-कमल-दल के समान थे। उसका रूप देवताओं के समान था। आँखों में काली रेखा थी और उसके कपोलों की चमक चन्द्रमा को भी लज्जित करने वाली थी। उसकी जटाएँ अत्यन्त कृष्ण वर्ण की और बहुत लम्बी थी, जिसमें से सुगन्ध आ रही थी और जो बिजली के समान चमकती थी।' आदि-आदि।

ऋष्यशृंग ने निर्लिप्त भाव से उस वेश्या पुत्री के अंग-प्रत्यंग का अपने पिता से वैसा ही वर्णन किया जैसा उन्होंने अनुभव किया था। और अन्त में उन्होंने उन सब विविध प्रकार के फलों, रसों, व्यंजनों आदि के स्वाद की चर्चा करते हुए उसके गाढ़ आलिंगन के सुखों की बात भी बताई और यह भी कहा कि—'पिता जी ! मैं उस मनोहर ब्रह्मचारी के संग ही रहना चाहता हूँ क्योंकि उसके बिना मुझे क्षण भर भी सुख नहीं है।'

महर्षि विभाण्डक संसार का सुख भोग चुके थे। उन्होंने तुरन्त जान लिया कि मेरी अनुपस्थिति में किसी ने मेरे सुन्दर और युवक पुत्र पर आँख गड़ाई है। उन्होंने प्रकट रूप से तो अपने पुत्र को यह समझा-बुझा कर डरा दिया कि उस ब्रह्मचारी के साथ उनका जाना ठीक नहीं है क्योंकि वह कोई मायावी राक्षस था और भीतर-भीतर बड़ी तत्परता से अपने आश्रम की रखवाली करने लगे क्योंकि पुत्र ही उनके जीवन का सर्वस्व था। उधर वृद्धा वेश्या अपने गुप्तचरों द्वारा विभाण्डक की दिन-चर्या को बराबर देखती-सुनती रहती थी।

जब कई दिनों तक विभाण्डक को अपने आश्रम में कोई विघ्न नहीं दिखाई पड़ा तो वे पुनः पूर्ववत् अपनी दिनचर्या पर आ गये। उचित अवसर देख कर उस सुन्दरी वेश्या ने इस बार और भी मोहक रूप धारण किया और वह जैसे ही ऋष्यशृंग के आश्रम पर पहुँची कि वे स्वयं उसके संकेतों पर नाचने लगे। उसके समीप पहुँचकर उन्होंने स्वयं कहा—

'ब्रह्मन् ! मेरे पिता जी जब तक आश्रम को वापस नहीं लौटते तब तक चलिए आपके आश्रम में मैं हो आऊँ।'

× × ×

फिर तो विभाण्डक के उस महान् तेजस्वी पुत्र को अपने कृत्रिम आश्रम में पाकर उस वृद्धा वेश्या ने तुरन्त अपनी नाव खोल दी और नाव पर ही उन परम सुन्दरी वेश्याओं ने ऋष्यश्रृंग को ऐसा मुग्ध कर लिया कि वे यह भी न जान सके कि यह नाव कहाँ जा रही है। अंगराज की राजधानी चम्पा नगरी के समीप नाव पहुँचने पर ऋष्यश्रृंग को उतार कर कुछ दिनों के लिए एक रमणीक स्थल पर रखा गया और फिर उसी वृद्धा वेश्या तथा उसकी पुत्री के निर्देशन पर उस स्थान से राजमहल तक विभाण्डक के आश्रम से बिल्कुल मिलता-जुलता एक आश्रम तैयार करा दिया गया। अपने उसी कृत्रिम आश्रम में कई दिनों तक निवास करने के पश्चात् राजा लोमपाद ने उन्हें जब अपने रनिवास में ठहराया तो सहसा उसी क्षण इन्द्रदेव ने ऐसी वर्षा की कि सारी अंग-भूमि जल से तृप्त हो गयी। फिर तो ऋष्यश्रृंग के संग राजा लोमपाद ने अपनी सुन्दरी दत्तक पुत्री शान्ता का विवाह भी कर दिया।

अपने प्राण प्रिय एकाकी पुत्र के वियोग में विह्वल महर्षि विभाण्डक जब पता लगाते हुए चम्पा नगरी पहुँचे तो राजा ने उनकी प्रसन्नता के विविध उपाय किये। मार्ग में ही चम्पा की सारी प्रजा उनके चरणों पर लेट गई और सबने अपने को उनके पुत्र ऋष्यश्रृंग की प्रजा घोषित की। राजधानी में उनका इन्द्र के समान अभिनन्दन हुआ, जिसमें शान्ता जैसी अनुपम सुन्दरी के संग विविध प्रकार के वस्त्राभूषणों से सुसज्जित ऋष्यश्रृंग ने भी राजा लोमपाद के साथ भाग लिया। विभाण्डक का सारा क्रोध शान्त हो गया। अपने पुत्र के सौभाग्य एवं ऐश्वर्य को देखकर वह गद्‌गद् हो उठे और राजा लोमपाद तथा उनकी प्रजा के सन्तोषार्थ दो-चार दिनों तक वहाँ रहकर वे पुनः अपने आश्रम को वापस लौट आये।

मुद्गल की परीक्षा

प्राचीन काल में कुरु प्रदेश में मुद्गल नामक एक परम विद्वान्, शांत, वीतराग और यज्ञपरायण ऋषि रहते थे। उनकी स्त्री थी, पुत्र थे और पशुओं का एक छोटा-सा समूह था। धर्मात्मा मुद्गल के गृहस्थ जीवन में कभी कोई अभाव और संकट नहीं आया। यद्यपि वे न तो कोई कृषि करते या कराते थे और न उनका कोई सुव्यवस्थित आश्रम ही था। ब्राह्मवेला में निद्रा त्यागने के अनन्तर वे अपनी नित्य क्रियाएँ सम्पन्न कर जप-तप, पूजा-पाठ और गो-सेवा में लग जाते थे और जब तक शरीर थक कर चूर-चूर नहीं हो जाता था, तव तक धरती पर पीठ नहीं देते थे। अपनी जीर्ण-शीर्ण पर्णकुटी में अपने सीमित साधनों से वे स्वर्ग को-सी शान्ति और सन्तोष का अनुभव करते थे और कभी किसी के सम्मुख हाथ पसारने या अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जाने का अवसर उन्हें नहीं मिला था। मुद्गल के सहज सन्तोषी, परिश्रमी एवं साधु-स्वभाव की छाप उनके समूचे परिवार पर पड़ी थी। उनकी अर्धाङ्गिनी भी उनके संग सदा लगी रहती थीं और पुत्रादि भी अध्ययन एवं गृहस्थी के कार्यों में सदैव हाथ बँटाते थे। इस प्रकार संसार की विषय-वासना का किंचित् संस्पर्श मुद्गल परिवार पर नहीं था।

मुनिवर मुद्गल और उनकी गृहस्थी की जीविका का साधन भी विचित्र था। वे अपने पुत्रों और स्त्री के संग कृषकों के फसल कटे हुए खेतों और खलिहानों में चले जाते और जो कुछ अन्न धरती पर इधर-उधर गिरा पड़ा रहता, उसे एकत्र करते। उनके इस निःस्पृह और कष्टपूर्ण जीवन पर करुणार्द्र होकर यदि कभी कोई कृषक अपने घर से अन्न लाकर उन्हें देना चाहता तो वे बड़ी विनम्रता और मृदु शब्दों में इनकार करते हुए कहते—

'भाई ! इस तरह तो मैं दो कार्य कर लेता हूँ। धरती पर व्यर्थ पड़े हुए अन्न कणों का सदुपयोग तो होता ही है, उनके चयन से इस शरीर को भी खूब श्रम करने के कारण अच्छा स्वास्थ्य मिलता है। यदि हम आपके परिश्रम द्वारा अर्जित इस अन्नराशि को ग्रहण कर लेंगे तो त्रिविध हानि होगी। धरती पर गिरे हुए वे अन्न-कण नष्ट हो जायेंगे, निरुद्यम और निठ्ठले होने के कारण हमारा शरीर रोगी हो जायगा और आपके श्रम द्वारा अर्जित अन्न के अनधिकृत उपयोग से हमारी बुद्धि कुण्ठित हो जायगी। क्योंकि यह अन्न ही हमारे विचार, बुद्धि एवं जीवन-दिशा का निर्माता है। हम जैसा अन्न खायेंगे, वैसे ही बन जायेंगे। भला बताइए, आपके श्रम की कमाई पर हमें मौज उड़ाने का क्या अधिकार है ?'

कृषक नतमस्तक और चुप होकर मुद्गल को मन ही मन प्रणाम कर निराश वापस चले जाते और कभी अनेक प्रार्थना, अनुरोध और आग्रह के बाद भी मुद्गल एवं उनके परिवार के किसी सदस्य को अपने निश्चयों से विचलित न कर पाते। मुद्गल और उनके परिवार के जीवन की यह प्रक्रिया निर्वाध रूप से बराबर चलती रही और उसमें कभी कोई व्यवधान नहीं आया। खेतों एवं खलिहानों में इधर-उधर गिरे हुए अन्न-कणों का संग्रह भी मुद्गल इतना ही करते, जितने में उनके परिवार को पन्द्रह दिनों तक केवल एक समय उदर-पूर्ति करने का अवसर लगता। ऐसा नहीं था कि परिश्रम करके वे एक ही बार अधिक अन्न एकत्र कर लेते और फिर आराम से बैठकर उसका उपभोग करते।

मुद्गल का नियम था कि प्रति दिन समूचा परिवार एक समय के भोजन के अतिरिक्त एक सेर अन्न का संचय और करता और इतना हो जाने पर यह कार्य बन्द कर देता। जब खेतों और खलिहानों का समय न होता तो जंगल की जड़ी-बूटियाँ, मूल, फल और कभी-कभी पत्र-पुष्प भी मुद्गल और उनके परिवार की उदर-पूर्ति करते। स्वयम् मुद्गल पन्द्रह दिनों में केवल एक बार अन्न ग्रहण करते और शेष दिनों मे जंगल में सुलभ वस्तुओं से काम चलाते। और इस प्रकार पन्द्रह दिनों

बाद उनके हिस्से की बची हुई जो अन्नराशि होती उसे वे यज्ञ एवं अपने अतिथियों के लिए रख छोड़ते।

पन्द्रह दिनों बाद एक द्रोण या लगभग सोलह सेर अन्न का संग्रह जब हो जाता तो सत्कर्मनिष्ठ और तपस्वी मुद्गल उससे इष्टीकृत नामक यज्ञ का सभक्ति अनुष्ठान करते और अपने अभ्यागतों, निमंत्रितों और परिवार के व्यक्तियों को भोजन कराकर तब स्वयं अन्न ग्रहण करते। उनके इस पाक्षिक यज्ञ की सर्वत्र चर्चा होती और उसमें भाग लेने के लिए त्रैलोक्य के स्वामी देवराज सभी देवताओं के संग स्वयम् समुत्सुक रहते। देवताओं की इस कृपा का परिणाम यह होता कि मुद्गल के यज्ञ में अतिथियों और अभ्यागतों की बहुलता होने पर भी कभी कोई अभाव नहीं आया। वेदज्ञ ब्राह्मणों के भोजन के बाद भी उनके परिवारके लिए खाद्य सामग्री शेष रह जाती। मुद्गल के निःस्वार्थ त्याग एवं व्रत के इस महान् प्रभाव की ख्याति थोड़े ही दिनों में भूमण्डल भर में फैल गई, किन्तु उन्हें इसका कोई अभिमान कभी नहीं हुआ।

मुनिवर दुर्वासा का स्वभाव विचित्र था। वे कभी किसी की प्रशंसा सहन नहीं करते थे और क्रोधी तो इतने थे कि लोग उनके नाम से भी घबड़ा जाते थे। दुर्वासा को जब मुद्गल की इस निःस्पृहता एवं साधना की चर्चा सुनाई पड़ी तो वे अपना सब काम-काज छोड़कर मुद्गल को इस व्रत से गिराने के लिए उनके आश्रम की ओर चल पड़े। उन्होंने पागलों जैसा अटपटा वेश बनाया। मूँड़ मुँड़ा लिया, अंगों में राख लपेट ली, दोनों हाथों में व्यर्थ के कंकड़-पत्थर ले लिये और अपशब्द तथा गालियाँ बकते हुए मुद्गल की पर्णकुटी के द्वार पर ठीक उस अवसर पर पहुँचे जब यज्ञान्त के अवसर पर अपने समस्त अतिथियों और अभ्यागतों को खिला, पिलाकर मुद्गल स्वयं भोजन करने जा रहे थे। द्वार पर पहुँचते ही दुर्वासा ने अपनी सहज कटु वाणी में मुद्गल को बुलाकर कहा—

—'तुम्हें मालूम होना चाहिए कि मैं भोजन की इच्छा से यहाँ आया हूँ।'

मुद्गल ने विनीत स्वर में हाथ जोड़कर कहा—'महर्षे ! आपका स्वागत है, यह मेरा सौभाग्य है जो आपने स्वयं यहाँ आकर दर्शन दिया।'

ऐसा कहकर उन्होंने बड़ी भक्ति से मुनिवर दुर्वासा का अर्घ्य, पाद्यादि से सभक्ति स्वागत कर उन्हें भी पूजन की सामग्री भेंट की और जो कुछ भोजन-सामग्री अपने लिए रखी थी, उसे उनके सम्मुख परोस दिया। वह खाद्य-सामग्री बड़ी स्वादिष्ट थी। दुर्वासा सचमुच बहुत भूखे थे। उन्होंने जब सारी सामग्री सफाचट कर दी तब मुद्गल ने उनके सामने और भोजन रखवाया। दुर्वासा वह सब भी खा गये और जो कुछ जूठन बचा था, उसे अपने अंगों में लपेट कर जिधर से आये थे, उसी ओर मुद्गल को गाली और अपशब्द बकते हुए वापस चले गये।

फल यह हुआ कि मुनिवर मुद्गल को उस पर्व पर भी अन्नाहार नहीं मिला, किन्तु दुर्वासा के सन्तुष्ट और कृतार्थ रूप में वापस चले जाने से उन्हें इतना हर्ष था कि मानों फूले नहीं समा रहे थे। वह पर्व भी उन्होंने व्रत रखकर समाप्त कर दिया।

किन्तु इसी प्रकार दूसरे पाक्षिक पर्व की समाप्ति पर भी मुनिवर दुर्वासा का आगमन पुनः हुआ और इस बार भी उन्होंने शिलोञ्छवृत्ति से जीवन-निर्वाह करने वाले उन मनीषी मुद्गल के यहाँ की सब खाद्य सामग्री सफाचट कर दी। किन्तु मुद्गल को इसकी तनिक भी चिन्ता नहीं हुई। वे पुनः व्रती रहकर अन्न के दानों को चुनने में ही लगे रहे। यद्यपि उनका शरीर क्षीण होता जा रहा था तथापि अन्तर के अपार सुख-सन्तोष एवं साधना से उनका तेजस्वी मुखमंडल और भी उद्भासित हो गया था। विशेषता यह थी कि इस बार महर्षि दुर्वासा ने उन्हें कोई अपशब्द नहीं सुनाये थे।

अपने पुत्र तथा स्त्री के संग महर्षि मुद्गल के अन्न-कण चयन का कार्य अनवरत चालू था। कई दिनों के अनाहार के कारण भी उन्हें भूख का कोई कष्ट विचलित नहीं कर सका। यहीं नहीं, उनके हृदय में क्रोध द्वेष, घबराहट, ईर्ष्या तथा अपमान की रेखा भी उदित नहीं हुई। संतोषा-

मृत से स्फीत उनकी और उनके समूचे परिवार की मन:स्थिति यथापूर्व थी और उन्होंने आगे आने वाले प्रत्येक पर्व की समाप्ति पर दुर्वासा के आगमन की आशा रखकर भी अपने पूर्व संकल्प से अधिक अन्न-कणों का संग्रह नहीं किया।

महर्षि दुर्वासा मुद्गल के धैर्य की परीक्षा के लिए कटिबद्ध थे। उन्होंने लगातार छः पर्वों पर इसी प्रकार उन्हें आहार नहीं ग्रहण करने दिया। किन्तु महात्मा मुद्गल सदैव अविचलित रहे। उनकी जीवन-व्यापिनी साधना अखण्डित रही। उनका मन एवं मस्तिष्क सदैव निर्मल रहा। उन्हें न तो भूख की कोई परेशानी हुई और न मानसिक विकारों ने ही उन्हें च्युत किया। महर्षि दुर्वासा की कटु वाणी एवं दुर्व्यवहारों की कोई चिन्ता न कर उन्होंने सदैव उनका पहले क समान स्वागत-समादर किया और दुर्वासा के सदैव उत्तेजक बने रहने पर ऐसा एक भी अवसर नहीं आने दिया कि वे कुछ कह सकते।

निदान दुर्वासा के पाषाण-हृदय में भी करुणा की आर्द्रता हुई और सातवीं बार जब वे भोजनादि से निवृत्त हुए तो सुप्रसन्न वाणी में मुद्गल का अभिनन्दन करते हुए बोले—

'ब्रह्मन्! मैंने इस जगती-तल को अनेक बार देखा है, किन्तु तुम्हारे समान ईर्ष्यारहित होकर दान देने वाला कोई दूसरा मनुष्य मुझे नहीं मिला है। भूख बड़े-बड़े ज्ञानियों, साधकों एवं तपस्वियों का धैर्य हर लेती है। रसों का सदैव अनुध्यान करने वाली चंचला रसना मनुष्य को सदैव अपने वश में रखती है। भोजन ही प्राणों का रक्षक है, चंचल मन को रोकना नदी के प्रवाह को विपरीत दिशा में लौटाने के समान कठिन है। मन और इन्द्रियों की एकाग्रता ही सच्ची तपस्या है और अपने परिश्रम से उपार्जित किये गये धन का शुद्ध सात्त्विक हृदय से दान करना अत्यन्त कठिन है।

'श्रेष्ठ पुरुष! मैंने इन सब बातों में तुम्हारी कठिन परीक्षा ली है और मुझे हार्दिक प्रसन्नता है कि तुम सब प्रकार से सफल हुए हो। मैं तुम पर

परम प्रसन्न हूँ और अपने ऊपर तुम्हारा विशेष अनुग्रह मानता हूँ। इन्द्रिय-संयम, धैर्य, दान, शम, दम, दया, सत्याचरण और धर्म का जो स्वरूप हमने तुममें देखा है, वह कहीं अन्यत्र नहीं मिला। मैं अपने समस्त अनुभवों के आधार पर यह कह सकता हूँ कि तुम्हारे समान शुद्ध अन्तः-करण वाला कोई दूसरा मनुष्य कहीं नहीं है।

'मुनिवर! तुमने अपने इन पुण्यकर्मों से सभी लोकों को जीत लिया है। स्वर्गवासी देवगण जो तुम्हारे दान की सर्वत्र प्रशंसा करते हैं, वह उचित ही है। तुम सचमुच स्वर्ग के अधिकारी हो।'

मुनिवर दुर्वासा सत्यवाक् थे, वे यह कह ही रहे थे कि देवराज इन्द्र द्वारा प्रेरित एक देवदूत अपना दिव्य रथ लेकर मुद्गल के समीप आया और उनसे सविनय बोला—'मुनिवर! यह दिव्य विमान आपको अपने सत्कर्मों से प्राप्त हुआ है, इस पर बैठ कर आप अपने परमसिद्ध लोक को प्रस्थान करें।'

धरती पर देवदूत और स्वर्ग के दिव्य स्यन्दन के आगमन की यह घटना अपूर्व थी किन्तु महर्षि मुद्गल के लिए इसमें कोई आश्चर्य और हर्ष की जैसे बात ही नहीं थी। उन्होंने अपनी सहज प्रसन्न वाणी से देव-दूत का स्वागत करते हुए कहा—

'भद्र! मैं तुम्हारे मुख से उस देवलोक और उसके निवासियों का कुछ वृत्तान्त जानना चाहता हूँ। क्योंकि वहाँ का पूर्ण परिचय प्राप्त किये बिना मैं अपनी प्यारी जन्म-भूमि एवं कर्म-भूमि को त्यागना नहीं चाहता। यह तो मुझे अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय है।'

देवदूत बोला—'मुनिवर! जिस स्वर्ग की प्राप्ति के लिए बड़े-बड़े ज्ञानी-विज्ञानी, ऋषि-महर्षि जीवन भर तरसते रहते हैं वह तुम्हें आज मिल रहा है, फिर ऐसा प्रश्न तुम क्यों पूछ रहे हो? अरे इस धरती पर तुम्हें क्या सुख है, जो इसे छोड़ने के पूर्व तुम स्वर्ग और स्वर्ग-निवासियों के सुखों का वृत्तान्त जानना चाहते हो।'

मुद्गल सहज प्रसन्न स्वर में सविनय बोले—'महानुभाव! मुझे क्षमा

करें। मुझे तो यह धरती ही सब प्रकार के स्वर्गीय सुखों की जननी मालूम पड़ती है, क्योंकि यदि यह न होती, या मेरा जन्म इस पर न होता तो आज तुम यह स्वर्गीय स्यन्दन लेकर मुझे बुलाने के लिए क्यों आते ? मैं इतना कृतघ्न नहीं हूँ, जो जननी के समान सुखदायिनी अपनी प्यारी जन्म-भूमि को त्याग कर उस स्वर्ग के लिए दौड़ पड़ूं, जिसका अभी कोई परिचय ही हमें नहीं है। मैं जानना चाहता हूँ कि वहाँ कैसे लोग रहते हैं ? वहाँ का सुख-दुख क्या है और वहाँ जाने पर फिर मुझे कहीं अन्यत्र क्या न जाना होगा ?'

देवदूत कुछ क्षण चुप रहा, क्योंकि मुद्गल की वाणी में कुछ सार था। वह कुछ हतप्रभ भी हुआ। फिर बोला—

'ब्रह्मन् ! स्वर्ग इस धरती के बहुत ऊपर है। वहाँ वही जा सकता है, जिसने मन समेत इन्द्रियों को वश्य कर लिया है, शम-दम से मुक्त है, ईर्ष्या, क्रोध से रहित है, दान-धर्म परायण है या शूर वीर है ! उस लोक में देवता, साध्य, विश्वेदेव, महर्षि गण, गन्धर्व एवं अप्सराओं के भिन्न-भिन्न लोक हैं।।उसी स्वर्गलोक में तैंतीस सहस्र योजन का मेरु गिरि है, जिसकी उपत्यका में नन्दनादि देवोद्यान हैं। वहाँ न किसी को भूख लगती है, न प्यास। न ग्लानि होती, है न शीत-ताप का कष्ट। न भय होता है न विस्मय। वहाँ कोई भी घृणा की वस्तु नहीं है। मुनिवर ! वहाँ बुढ़ापा और रोग-शोक भी नहीं होता। यही नहीं, वहाँ के निवासियों के तेजस्वी शरीर में न कभी पसीना होता है न दुर्गन्धि। मल-मूत्रादि की क्रियाओं की वहाँ कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। इस स्वर्ग लोक में जीव अपने पुण्य कर्मों का भोग करते हैं और इस प्रकार जब अर्जित पुण्य समाप्त हो जाता है तब स्वर्ग से गिर कर वह प्राणी पुनः भाग्यशाली मनुष्य के घर में जन्म धारण करता है।

'मुनिवर मुद्गल ! इस स्वर्ग से भी ऊपर अनेकानेक दिव्य लोक हैं और सब के ऊपर ब्रह्म लोक है, जो अत्यन्त तेजस्वी, मंगलकारी एवं समस्त सुख-शान्तियों का भाण्डार है। उस लोक में तुम्हारे समान अपने शुभकर्मों

से पवित्र ऋषि-मुनि जाते हैं। वहाँ ऋभु नामक उत्तम देवतागण निवास करते हैं, जो देवताओं के भी आराध्य हैं। देवगण अपने यज्ञों में उन्हीं को भाग देते हैं। इस ब्रह्मलोक में आत्मा को किसी भी प्रकार के मद-मोह, मत्सर एवं काम-विकारों की बाधा नहीं आती। न स्त्रियों की कामना होती है और न किसी के वैभव-ऐश्वर्य की ईर्ष्या। इस ब्रह्मलोक के निवासी देवताओं के समान आहुतियों से अपनी जीविका नहीं चलाते और न उन्हें देवताओं के समान अमृत-पान की इच्छा होती है। उनके शरीर दिव्य ज्योतिमय हैं और कल्पान्त में भी उन्हें च्युत नहीं होना पड़ता। हर्ष, प्रीति, सुखादि विकारों से जब उन्हें कभी अनुराग नहीं होता तब फिर दुःख एवं द्वेष का संस्पर्श क्यों कर हो सकता है? जो प्राणी अपने जप-तप से सुख-भोगों की कामना रखते हैं, उन्हें यह लोक सदैव दुर्लभ रहता है।

'किन्तु ब्रह्मन्! तुमने स्वर्गादि लोकों के गुणों के साथ उनके दुर्गुणों का जो परिचय मुझसे पूछा है, उन्हें भी सुन लो। इन लोकों का सबसे बड़ा दुर्गुण यही है कि इनमें प्राणी सदा सर्वदा के लिए निवास नहीं कर सकता। एक न एक दिन उसके पुण्यों की समाप्ति हो जाती है और फिर उसे वहाँ से गिर कर धरती पर आना ही पड़ता है।'

मुद्गल अब तक चुपचाप देवदूत की बातें ध्यान से सुन रहे थे, किन्तु अब एक क्षण के लिए भी रुकना उन्हें कठिन लगा। वे विनीत वाणी में बोले—

'सौम्य! यदि ऐसा है तो मैं अपनी प्यारी जन्मभूमि एवं कर्म-भूमि को छोड़ कर उस स्वर्ग में नहीं जाना चाहता, जिससे एक न एक दिन पतन हो कर ही रहेगा। भद्र! मैं तुम्हें सादर नमस्कार करता हूँ। तुम सुखपूर्वक अपने लोक को वापस जाओ। मैं तो इस धरती पर ही उस स्वर्ग से भी अधिक सुख-शान्ति का अनुभव कर रहा हूँ क्योंकि जब पुण्य से च्युत होने पर हमें यहाँ पुनः आना ही पड़ेगा तो यहाँ से छोड़कर अन्यत्र

जाना तो मूर्खता ही है। मैं तो ऐसे परमधाम को प्राप्त करना चाहता हूँ, जिससे कभी पतन की संभावना न रहे।'

देवदूत हँसने लगा। बोला—'ब्रह्मन्! ऐसे लोक की प्राप्ति तो तुम इस धरती पर रह कर ही कर सकते हो। तुम्हारा निःस्पृह, परिश्रमी एवं सात्त्विक जीवन ही एक न एक दिन उस परम धाम को प्राप्त करने का अधिकारी होगा। अस्तु! मैं जा रहा हूँ, तुम्हारा मंगल हो।'

देवदूत के चले जाने पर महर्षि दुर्वासा भी मुद्गल को शुभाशीष देकर अपनी राह चले गये। तदनन्तर मुद्गल ने सुख की साँस ली। अपनी जीवन-चर्या में अब उन्होंने कुछ परिवर्तन कर लिया। यद्यपि खेतों और खलिहानों से अन्न-कणों के संचयन द्वारा जीविका चलाने का कार्य अब भी उन्होंने जारी रखा तथापि परोपकार, दया, अहिंसा, सत्याचरण एवं यज्ञाराधन के साथ-साथ उन्होंने अपने अन्तर्मन से कामनाओं के जालों को काट कर फेंक दिया। पहले जिन पुण्य कर्मों की उपासना वे स्वर्गादि लोकों की कामना से किया करते थे, उन्हें अब निष्काम भाव से करने लगे। उनकी दृष्टि में निन्दा और स्तुति समान बन गई। वे मिट्टी के ढेले और सुवर्ण की राशि को समान समझने लगे और विशुद्ध ज्ञान योग की उपासना के संग मानसिक विकारों का निर्दलन करने लगे।

शरीर की ओर मुनिवर मुद्गल का मोह कभी नहीं था। अब तो पन्द्रहों दिन अन्नाहार करने के नियम को भी उन्होंने त्याग दिया और स्वयम् मूल, फल एवं पत्र-पुष्पादि से शरीर को केवल इस योग्य बनाये रखा, जिससे चलने-फिरने में विशेष बाधा न हो। पत्नी और पुत्रादि से निःस्पृह तो वे पहले ही से थे अब जीवमात्र में उनकी दृष्टि समान हो गई। इस प्रकार शनैः-शनैः उनके वैराग्य को बल मिलता गया, और एक दिन ऐसा आया जब अन्न-कणों का संचयन करते हुए ही उनका पार्थिव शरीर छूट गया और उन्होंने वह सनातन मोक्ष प्राप्त किया जो देवताओं के लिए भी दुर्लभ है।

अग्नि की उदर-व्याधि

वेदों में राजा मरुत्त की चर्चा है। राजा मरुत्त बड़े दानी तथा बड़े-बड़े यज्ञ करने वाले थे। उनका राज्य सारे भूमण्डल पर था। उनके राज्यकाल में प्रजा सुखी थी, सम्पन्न थी और उसे कोई अभाव नहीं था। राजा मरुत्त अपनी प्रजा को अपने पुत्रों के समान प्यार करता था। न कोई किसी को सताता था और न किसी का किसी से झगड़ा होता था। कृषि और वाणिज्य से इतना लाभ होता था कि सारे राज्य में कभी किसी बात का अभाव नहीं रहा। न कभी अकाल पड़ा, न मँहगी आई। समय-समय पर पानी बरसता था, धूप होती थी, सर्दी पड़ती थीं और वृक्षों तथा वनस्पतियों में फल-फूल लदे रहते थे। पशु-पक्षी भी राजा मरुत्त के राज्य में सुखी थे और दूध-दही की नदियाँ बहती थी। बहुत वर्षों तक राजा मरुत्त का राज्य जब भारतवर्ष में इसी तरह चलता रहा तो स्वर्ग के देवता भी इस देश की धरती पर जन्म लेने के लिए तरसने लगे।

राजा मरुत्त ने एक बार बहुत बड़ा यज्ञ किया। ऐसा यज्ञ, जैसा कभी किसी राजा ने नहीं किया था। बताते हैं, उन्होंने एक ऐसी विशाल यज्ञ-शाला बनवाई, जिसमें देश भर के माने-जाने विद्वान्, पण्डित और ऋषि, महर्षि के साथ लाखों लोग बैठ सकते थे। बीच में विशाल यज्ञकुण्ड था, जिसमें लगातार बारह वर्षों तक घी की आहुति डाली जाती रही। बारह वर्षों के भीतर दिन और रात में कभी यज्ञ बंद नहीं हुआ और घी की आहुति की धारा भी निरन्तर यज्ञकुण्ड में गिरती रही। बारह वर्ष के बाद जब यह महान् यज्ञ समाप्त हुआ तो राजा मरुत्त ने अपना सारा राज-कोश दान-दक्षिणा में लुटा दिया। गरीबों और भिक्षुकों को तो उन्होंने इतना धन दान में दिया कि वे उसे सम्हालने में ही परेशान हो गये।

कहते हैं, इस यज्ञ के बाद देश में न कोई दरिद्र रह गया, न कोई भिखारी। और समूची धरती का वातावरण तो स्वर्ग के समान सुखदायी और सुगन्धित बन गया। इस यज्ञ से देवता गण भी बहुत तृप्त हुए और अग्नि को तो ऐसी तृप्ति हुई कि वे सब के सामने यह स्वीकार करने लगे कि इस भूमण्डल पर मरुत्त के समान यज्ञकर्त्ता कोई दूसरा राजा न तो पैदा हुआ है और न आगे होगा।

राजा मरुत्त के इस महान् यज्ञ की हमारे देश में सैकड़ों वर्षों तक चर्चा होती रही। जिन लोगों ने यह नहीं देखा था, उन्होंने अपने बड़े-बूढ़ों से सुनकर अपने बच्चों को बताया। और धीरे-धीरे इस यज्ञ की चर्चा सम्मूचे देश भर में सैकड़ों वर्षों तक आगे बढती ही गई।

राजा मरुत्त के बहुत वर्षों बाद श्वेतकि नाम के एक अन्य राजा हमारे देश के राज-सिंहासन पर बैठे। वे जितने बलवान् तथा पराक्रमी थे उतने ही उदार तथा दानी भी थे। स्वयं देवराज इन्द्र भी उनसे भय खाते थे और धरती पर तो ऐसा एक भी राजा नहीं था, जो राजा श्वेतकि का नाम सुनकर सन्नाटे में न आ जाय। बताते हैं, जब तक राजा श्वेतकि का राज्य था, किसी शत्रु ने राज्य की सीमाओं पर आक्रमण नहीं किया और न किसी अन्य प्रकार का उपद्रव किया। उसके राज्य में प्रजा को सब प्रकार का सुख था। न निर्बल सताये जाते थे, न बलवानों के साथ पक्षपात होता था। प्रकृति और धरती भी राजा श्वेतकि को मानों डरती थी। कृषि में अधिक से अधिक अन्न उपजता था और कभी दुर्भिक्ष नहीं पड़ता था। वन-उपवन और बाग-बगीचे फलों-फूलों से लदे रहते थे और सरोवर तथा नदियों में अमृत के समान जल भरा रहता था।

राजा श्वेतकि को राजा मरुत्त के उस महान् यज्ञ की बात बचपन से ही मालूम थी। अपने अद्भुत पराक्रम से जब उन्होंने समूचे देश को अपना अनन्य आज्ञाकारी बना लिया और देख लिया कि प्रजा वर्ग में उनके प्रति बड़ा आदर और स्नेह है, तो उन्होंने भी मरुत्त की भाँति दान और यज्ञ की परिपाटी शुरू कर दी। पहले उन्होंने छोटे-छोटे यज्ञ किये, फिर कुछ बड़े-

बड़े यज्ञ किये। और इसके बाद ऐसे-ऐसे विशाल यज्ञ किये, जिन्हें करने की शक्ति अकेले उन्हीं में थी। इन यज्ञों के बाद उनके जीवन की दिशा बदल गई। फिर तो दान देने और यज्ञ करने में ही उनका अधिकांश समय बीतने लगा। युद्ध के बाजे बंद हो गये और हथियारों में मोर्चा लगने लगा।

इस प्रकार अनेक वर्ष जब बीत गये तो राजा के पुरोहितों का बुरा हाल हो गया। बड़े-बड़े यज्ञों में पिछले बीसों वर्षों से लगातार लगे रहने और यज्ञकुण्ड के समीप होने वाले ताप से उनकी आँखों की ज्योति बहुत मन्द पड़ गई। कुछ बेचारों की तो आँखों की ज्योति जाती रही और कुछ बहुत जल्द ही बूढ़े हो गये। राजा श्वेतकि को इसका अनुभव तो होता नहीं था, क्योंकि वे तो यज्ञ में सांय-प्रातः की उपस्थिति देकर चले जाते थे और अपना राज-काज देखते थे। दान-दक्षिणा के लिए आवश्यक धन-सम्पत्ति का प्रबन्ध करते थे, और इधर बेचारे पुरोहित दिन-रात यज्ञ-कुण्ड और यज्ञ-मण्डप को छोड़कर अपने परिवार में भी नहीं आ-जा सकते थे। क्योंकि शास्त्रों की आज्ञा के अनुसार यज्ञों के अनुष्ठान के समय उन्हें बड़े आचार-विचार से रहना पड़ता था। राजा श्वेतकि का ध्यान स्वयं न तो इस बात की ओर कभी गया और न उनके कुल पुरोहितों ने अपनी निन्दा के भय से कभी अपनी इन कठिनाइयों की उनसे चर्चा ही की।

एक बार एक विशाल यज्ञ की समाप्ति के बाद राजा श्वेतकि ने यज्ञ-कुण्ड की सफाई और शीतलता के लिए कुछ दिनों तक यज्ञ को बंद करा दिया। बेचारे पुरोहितों को बिना कहे ही कुछ दिनों का अवकाश मिल गया। वे अपने परिवार को वापस गये, किन्तु वहाँ जाने पर उन्हें ज्ञान हुआ कि जहाँ उनके समवयस्क अन्य पड़ोसी जन अभी युवक और प्रौढ़ा-वस्था में रहकर सांसारिक कर्मों में सब प्रकार से समर्थ हैं, वहीं वे अकाल वृद्धता के कारण अपना सब कुछ गँवा चुके हैं। उनकी आँखों में न तो पर्याप्त रोशनी है और न कमर में सीधे खड़े होने की शक्ति। मुखमण्डल में झुर्रियों की सघन रेखाओं से युक्त उनके बाल धूमिल और श्वेत हो

चुके हैं। अनेक वर्षों के अभ्यास के कारण आहुति का स्वाहा शब्द अब भी उनके कानों में गूँजा करता है और जीभ पर तो वेदोक्त मंत्रों का ही अनजाने में जाप होता रहता है। यद्यपि राजा श्वेतकि के यहाँ से प्राप्त प्रचुर दक्षिणाओं के कारण अब उन्हें संसार में किसी वस्तु का अभाव नहीं रह गया है तथापि शारीरिक कठिनाइयों और असमर्थताओं ने उन्हें इतना आतङ्कित कर दिया कि उन्होंने बहुत वर्षों तक किसी भी यज्ञ-दानादि प्रसंग में भाग न लेने का निश्चय कर लिया।

इधर कुछ ही दिनों बाद जब यज्ञकुण्ड का पुन: संस्कार हो चुका और यज्ञ मण्डपादि के साथ एक महान् नूतन यज्ञ की सामग्री और दक्षिणा भी एकत्र हो चुकी तो राजा श्वेतकि ने पुरोहितों को बुलाने के लिए अपना विशेष दूत और रथ भेजा। किन्तु पुरोहितों को जब दूत द्वारा राजा का सन्देश मिला तो उन्होंने बड़े विनय के साथ राजा से यह निवेदन करने की प्रार्थना की कि—'अब वे बहुत वर्षों तक किसी यज्ञ में भाग लेने योग्य नहीं रह गये हैं। न उन्हें दक्षिणा का लोभ है और न राजा का भय है। जब शरीर ही नहीं रहेगा तो संसार में जन्म लेने का क्या फल है ?'

दूत ने पुरोहितों को बहुत कुछ समझाने-बुझाने का प्रयत्न किया। ऊँचा-नीचा दिखाया किन्तु वे टस से मस न हुए। साफ इन्कार कर दिया और यह भी धमकी दी कि यदि राजा अप्रसन्न होंगे तो वे उनकी राज-धानी ही नहीं छोड़ देंगे, बल्कि अपनी धन-सम्पत्ति भी त्यागकर किसी दूसरे राज्य में जा कर बस जायँगे।

राजा को अपने दूत द्वारा जब पुरोहितों का यह निश्चय मालूम हुआ तो वे बहुत चिन्तित हुए और स्वयं पुरोहितों के पास गये। किन्तु पुरोहित वर्ग तब भी राजी नहीं हुआ और उसने राजा से विनयपूर्वक अन्य पुरोहित चुन लेने का आग्रह किया। राजा श्वेतकि बड़े उदार और परदु:खकातर थे, उन्होंने अपने पहले पुरोहितों से क्षमा माँगकर अपने यज्ञ में दूसरे पुरोहितों को नियुक्त कर दिया। राजा का यह यज्ञ भी बड़े समारोह के साथ

सम्पन्न हुआ। खूब दान-दक्षिणा दी गई और नये पुरोहितों की प्रसन्नता का सदैव ध्यान रखा गया।

किन्तु इस यज्ञ के बाद राजा श्वेतकि के मन में राजा मरुत्त के यज्ञ से भी बड़ा एक ऐसा महान् यज्ञ करने का निश्चय हुआ, जो लगातार सौ वर्षों तक निरन्तर चलता ही रहे। अपने इस विचार को पूरा करने के लिए राजा ने पहले सब साधन जुटाये। दक्षिणा जुटाई और फिर भूमण्डल भर से चुन-चुन कर विद्वानों और पण्डितों को निमंत्रण दिया। किन्तु जब तक अपने कुल पुरोहित ही इस यज्ञ में भाग न लें तब तक यज्ञ तो अधूरा ही समझा जायगा—इस विचार से राजा को बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने फिर से अपने कुल पुरोहितों को मनाने के उपाय किये, किन्तु सब प्रयत्न निष्फल रहे। राजा स्वयं अपने सभी मंत्रियों, मित्रों और सामन्तों के संग उनके घर गया, उनके पैरों पर गिरकर प्रार्थना की, अनुरोध और आग्रह किया, किन्तु उन दुराग्रही और निर्विण्ण ब्राह्मणों ने राजा की बातों पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया क्योंकि वे समझते थे कि राजा के इस दीर्घ-कालव्यापी यज्ञ में सम्मिलित होने के बाद फिर से उन्हें सांसारिक जीवन बिताने का अवसर नहीं मिलेगा।

राज श्वेतकि ने जब देखा कि उनका कोई उपाय सफल नहीं हो रहा है और ये कुल पुरोहित किसी भी तरह से उनके यज्ञ में भाग लेने को तैयार नहीं हैं तो उन्होंने एक युक्ति से काम लिया। कुल पुरोहित के एक वृद्ध के चरणों में पुनः शीस नवा कर उन्होंने कहा—'पूज्य महात्मन्! मेरा यज्ञ तो किसी न किसी प्रकार से सम्पन्न होगा ही, क्योंकि इसके लिए मैंने देवाधिदेव शिव से स्वीकृति प्राप्त कर ली है, किन्तु यदि आप और आपके वंशज हमारे वंश परम्परागत पुरोहित होकर भी इस यज्ञ में भाग न लेंगे तो संसार में आपकी और आपके वंशजों की अपकीर्ति बढ़ेगी। आज तक संसार में किसी भी ऐसे पुरोहित का नाम मैंने नहीं सुना, जो अपने यजमान के यज्ञ में भाग लेने से इन्कार करता रहा हो।'

वृद्ध पुरोहित ने कहा—'महाराज! अति सर्वत्र वर्जित है। संसार में

ऐसा कोई राजा भी नहीं हुआ, जो इतने बड़े-बड़े यज्ञों को आरम्भ करके अपने पुरोहितों को अकालवृद्ध बना देने के लिए विवश करे। आप तो एक दिन के लिए भी यज्ञ के बिना रुकते नहीं, किन्तु यह नहीं सोचते कि दिन-रात आहुतियाँ देते रहने से हमारी तथा हमारे वंशजों की क्या दुर्गति हो गई है। क्या हम लोगों का जन्म केवल इसीलिए हुआ है कि हम आपका यज्ञ करते-करते ही इस संसार से बिदा ले लें? आप एक बार हमारा परित्याग करके अब पुनः क्यों हमें अपने यज्ञ में बुला रहे हैं? यदि शिव जी ने आपको ऐसा महान् यज्ञ करने की स्वीकृति दे दी है तो आपने उन्हीं से स्वयं यज्ञ कराने का भी अनुरोध क्यों नहीं किया? क्योंकि हमारी मति में तो लगातार सौ वर्षों तक चलते रहने वाले आपके यज्ञ में भाग लेकर हम लोग कोई नहीं बचेंगे।'

वृद्ध कुलपुरोहित ने राजा श्वेतकि से यह बात इतने व्यंग्यपूर्ण ढंग से और ऐसे चढ़ाव-उतार के साथ कहा कि उनका अमर्ष जाग्रत हो गया और उन्होंने अपने कुलपुरोहितों के सम्मुख यह प्रतिज्ञा की कि—'अब तो मेरे इस यज्ञ में स्वयं शिव जी को ही आहुति डालनी पड़ेगी। यह अच्छा ही हुआ कि आप लोगों ने मेरा ध्यान इस ओर खींच लिया।'

कुल पुरोहितों के घर से राजा ने राजधानी की ओर अपना रथ वापस नहीं किया और वे सीधे कैलास पर्वत पर जाकर घोर तपस्या में लीन हो गये। राज का काम-काज उन्होंने अपने वरिष्ठ मंत्री को सौंप दिया और यह तय कर लिया कि—या तो स्वयं शिव जी हमारे यज्ञ में भाग लेंगे अथवा मैं स्वयं शिव के लोक का यात्री बनूँगा।

उधर कुलपुरोहितों की ईर्ष्या भी जगी। उन्होंने अग्नि देवता को साधा, जो सदा से अब तक राजा मरुत्त का ही गुणगान किया करते थे। अग्नि को जब पुरोहितों द्वारा यह ज्ञात हुआ कि राजा श्वेतकि मरुत्त के यश को खर्वित करने के लिए सौ वर्षों का यज्ञ करना चाहते हैं तो उन्होंने देव-सभा में राजा श्वेतकि का मजाक उड़ाते हुए एक बार कहा—

'अब इस धरती पर मरुत्त के बाद कोई ऐसा राजा नहीं पैदा होगा

जो घी की निरन्तर-धारा द्वारा मुझे सन्तुष्ट कर सकता हो। व्यर्थ में अपना दम्भ और अभिमान जताने के लिए राजा लोग मरुत्त के यज्ञ से बड़ा यज्ञ करने का निश्चय करते हैं। उनका यह निश्चय कभी पूरा होने वाला नहीं है।' देव-सभा में अग्नि द्वारा कही गई ये बातें धीरे-धीरे जब शिव जी को ज्ञात हुईं तो उनका हृदय अपने भक्त राजा श्वेतकि के कठोर तप पर प्रसन्न हो उठा क्योंकि राजा को अपने तन-मन का तनिक भी ध्यान नहीं था। बहुत दिनों तक निराहार, फिर निर्जल और तदनन्तर ऊपर बाहें उठाकर एक पग पर खड़े रहकर उन्होंने तपस्या की थी। राजा श्वेतकि जैसे सदा दान और यज्ञ में लीन रहने वाले की ऐसी कठोर तपस्या देखकर तीनों लोक काँप गया था। देवता भी आश्चर्य में पड़ गये थे। फिर तो शिव जी को प्रकट होना ही पड़ा। उन्होंने राजा से कहा—

'राजन्! मैं आपका दुर्लभ से दुर्लभ अभीष्ट देने के लिए यहाँ आया हूँ। आप धन्य हैं। जो भी वरदान आप माँगना चाहें, निःसंकोच माँग सकते हैं।'

श्वेतकि ने कहा—'देवाधिदेव! मैं अपने सौ वर्षों तक निरन्तर चलने वाले महान् यज्ञ में आपको पुरोधा बनाना चाहता हूँ। बस, यही मेरी कामना है।'

शंकर जी ने राजा श्वेतकि की प्रार्थना स्वीकार करते हुए कहा—'राजन्! यद्यपि मैं कभी किसी यज्ञ में पुरोधा नहीं बना हूँ, और न यह मेरा काम ही है तथापि तुम्हारी कठोर तपस्या को मैं निष्फल नहीं होने दूँगा। किन्तु उस यज्ञ के लिए अभी तुम्हें अग्नि देव को भी सन्तुष्ट करना होगा क्योंकि वह तुम्हारे ऊपर अप्रसन्न हैं।'

राजा की चिन्ता बढ़ गई। उसने पूछा—'देवाधिदेव! मैंने तो कभी भूलकर भी ऐसा कोई काम नहीं किया है, जिससे अग्नि देवता मुझ पर अप्रसन्न हों, किन्तु आपके आदेशानुसार मैं उनको सन्तुष्ट करने का पूरा प्रयत्न करूँगा। इसके लिए मुझे जो कुछ करना हो, कृपया आप उसका निर्देश करें।'

शंकर जी ने कहा—'इसके लिए तुम्हें अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके निरन्तर बारह वर्षों तक कभी न टूटने वाली घृत की धारा से अग्नि देव को प्रसन्न करना होगा।'

राजा श्वेतकि ने शंकर जी की आज्ञा का पालन किया। निरन्तर बारह वर्षों तक अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके उन्होंने अग्नि को अविच्छिन्न घृत की धारा सें ऐसा सन्तुष्ट किया कि उनका भ्रम दूर हो गया।

ज्यों ही बारह वर्ष पूरे हुए राजा श्वेतकि की यज्ञशाला में शंकर जी ने प्रत्यक्ष दर्शन दिया और प्रसन्नता से भरे स्वर में श्वेतकि को आश्वस्त करते हुए कहा—'राजन्! तुमने कठोर तपस्या करके मुझे प्रसन्न किया है और अपने महान् यज्ञ में पुरोधा बनने की मेरी स्वीकृति भी प्राप्त कर ली है, किन्तु वेदों और शास्त्रों में यज्ञों को कराने का अधिकार केवल ब्राह्मणों को है, अतः मैं अपने अंशभूत महर्षि दुर्वासा को तुम्हारे यज्ञ को सम्पन्न कराने का अधिकार देता हूँ। वह वेदों और शास्त्रों के पारंगत ऋषि हैं। उनके द्वारा तुम्हारे यज्ञ की समाप्ति होने पर वही फल मिलेगा जो मेरे-द्वारा मिलता। अब तुम शीघ्र ही अपने उस महान् यज्ञ का समारम्भ करो।'

उधर शंकर जी ने महर्षि दुर्वासा को बुलाकर सहेज दिया कि—'जैसे भी संभव हो राजा श्वेतकि का यज्ञ ऐसा हो, जैसा आज तक किसी दूसरे ने इस धरती पर न किया हो। यज्ञ में कोई विघ्न न पड़े—इसका ध्यान रखना आवश्यक है। राजा के कुलपुरोहितों ने यज्ञ में भाग लेने से इन्कार कर दिया था, किन्तु अब वे पश्चात्ताप कर रहे हैं अतः यदि वे अपनी इच्छा से यज्ञ में आकर भाग लेना चाहें तो उनका अनादर न होना चाहिए।'

महर्षि दुर्वासा ने शंकर जी की आज्ञा का अक्षरशः पालन किया। राजा श्वेतकि के यज्ञ के लिए उन्होंने वेदों के सुप्रसिद्ध ऋषि भरद्वाज, गर्ग और गौतम को भी साथ लिया। महर्षि भरद्वाज को यज्ञ का ब्रह्मा बनाया, गर्ग को अध्वर्यु बनाया और गौतम को उद्गाता

बनाकर स्वयं होता बने। इस प्रकार वह महान् यज्ञ जब आरम्भ हुआ तो धरती भर के लोग उसे देखने के लिए एकत्र हुए क्योंकि ऐसा यज्ञ अभी तक किसी ने किया नहीं था, जिसमें इतने बड़े-बड़े ऋषि मुनि भाग ले रहे हों। स्वयं शंकर जी भी ब्रह्मा और विष्णु तथा अन्य देव-मण्डली के साथ राजा श्वेतकि के उस यज्ञ को देखने आये।

उधर राजा के कुलपुरोहितों को जब यह ज्ञात हुआ कि राजा श्वेतकि के यज्ञ में स्वयं शंकर जी भाग ले रहे हैं और बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि भी पुरोधा बने हैं तो वे चिन्तित हुए। पिछले अनेक वर्षों से किसी यज्ञ में भाग न लेने के कारण अब उनकी ऊब भी समाप्त हो चुकी थी। अतः बिना बुलाये ही वे राजा श्वेतकि की यज्ञशाला में स्वयं पहुँच गये और अपनी भूलों पर क्षमायाचना के साथ पुनः यज्ञ में सम्मिलित होने का अनुरोध किया। महर्षि दुर्वासा तथा राजा श्वेतकि ने उनको विविध प्रकार की दक्षिणा देकर सन्तुष्ट किया, किन्तु यज्ञ में भाग लेने की अनुमति देने में इसलिए असमर्थता प्रकट की कि सब प्रबन्ध पूरा हो चुका था और यज्ञ का कुछ कार्य बहुत आगे बढ़ चुका था। निदान राजा के कुल पुरोहित दान दक्षिणा लेकर प्रसन्न चित्त से अपने घर वापस लौट गये और राजा का वह महान् यज्ञ बराबर सौ वर्षों तक बिना किसी विघ्न-बाधा के चलता रहा।

किन्तु राजा श्वेतकि के इस यज्ञ में अग्नि देवता की बड़ी दुर्गति हुई। निरन्तर बारह वर्षों की अनवरत घृत धारा के बाद इस महान् यज्ञ में उन्हें भयंकर उदर-व्याधि हो गई। उनका गर्व चूर-चूर हो गया और उन्हें भी राजा श्वेतकि से अपनी भूलों के लिए क्षमा माँगनी पड़ी।

बताते हैं, तभी से अग्नि देवता की वह उदर-व्याधि सदा के लिए शान्त नहीं हुई। जहाँ पहले वह गीले-सूखे सभी प्रकार के आज्यों और यज्ञ-सामग्रियों को जलाने में समर्थ थे वहाँ अब गीले काष्ठों और औषधियों को देखकर वह चिन्तित रहने लगे और तभी से कभी किसी यज्ञकर्त्ता का उन्होंने परिहास नहीं किया। ———

सत्यवादी राजा और धर्मराज

बहुत पुरानी बात है। हमारे देश में एक बड़े धर्मात्मा राजा थे। वह सत्य का बड़ा आदर करते थे। स्वयं सदैव सत्य बोलते थे और सब से सत्य बोलने की आशा करते थे। उनकी स्त्री, उनके बच्चे, उनका परिवार, उनके नौकर-चाकर सब को उनकी सत्यप्रियता मालूम थी, इसलिए कभी भूलकर भी कोई असत्य नहीं बोलता था। बड़े से बड़ा अपराध होने पर भी वह अपराधी को सत्य बोलने पर और भविष्य में फिर से अपराध न करने का वचन देने पर प्रायः क्षमा कर देते थे। किन्तु उस समय उनका क्रोध बहुत बढ़ जाता था जब कभी उन्हें किसी के असत्य व्यवहार का पता लगता था। मामूली-सी बातों में और हँसी-मजाक के मौके पर भी वह असत्य का व्यवहार सहन नहीं कर पाते थे।

राजा के इस व्यवहार के कारण उनके राज्य भर में ही नहीं बाहर के लोग भी उन्हें सत्यवादी राजा के नाम से पुकारते थे। संसार में उनका बड़ा नाम था, बड़ा भय था और बड़ा रोब-दाब था।

राजा ने अपने नगर से कुछ दूर एक बहुत बड़ा बाजार बनवाया और उसमें बेचने के लिए संसार की सभी वस्तुओं के व्यापारियों को दूकानें दीं। यही नहीं, उन्होंने यह भी घोषणा करा दी कि हमारे इस बाजार में बिक्री के लिए रक्खी गई कोई वस्तु यहाँ से वापस न जाने पायेगी। जो वस्तु जनता नहीं खरीद सकेगी, उसे राजा स्वयं ले लेगा। किन्तु शर्त यही होगी कि कोई वस्तु न तो नकली बेची जायगी और न उसका दुबारा मूल्य बताया जायगा। राजा की इस घोषणा से उनके बाजार की बड़ी उन्नति हुई। थोड़े ही दिनों के भीतर उनके राज्य के तथा बाहर के सैकड़ों व्यापारी तरह-तरह की वस्तुएँ ले-ले कर वहाँ इकट्ठे होने लगे और उसी तरह वस्तुएँ खरीदने वालों की भी वहाँ बड़ी भीड़ होने लगी।

धरती की ऐसी कोई वस्तु नहीं होती थी, जो सत्यवादी राजा के बाजार में बिकने के लिए न आती हो। अन्न, वस्त्र, मिठाई, हीरा-जवाहरात, सभी किस्म की वस्तुएँ वहाँ बिकने के लिए आतीं और शाम होते-होते बिक जातीं। कभी यदि कोई वस्तु न बिक पाती तो सत्यवादी राजा के दूत उन्हें मुँहमाँगा दाम देकर खरीद लेते और दूकानदार हँसी-खुशी से आगे का सौदा खरीदने के लिए चला जाता।

सत्यवादी राजा और उनके इस नये बाजार की चर्चा सारी धरती पर होने लगी। जहाँ देखिये, वहीं लोग उनकी और उनके बाजार की प्रशंसा करने लगे। धीरे-धीरे धरती से उठ कर स्वर्ग में जब यह चर्चा पहुँची तो धर्म के देवता धर्मराज ने राजा की परीक्षा लेने का निश्चय किया।

धर्मराज ने एक भिखमंगे ब्राह्मण का वेश धारण किया। घर-गृहस्थी की टूटी-फूटी वस्तुओं और फटे-पुराने चीथड़ों की एक गठरी बना कर वे राजा के बाजार में जा पहुँचे और हीरा-जवाहरात की दूकानों के आगे उसे खोलकर बेचने के लिए बैठ गये। पहले तो दूकानदारों ने उन्हें रोका; किन्तु धर्मराज ऐसे-वैसे भिखमंगे तो थे नहीं। दूकानदारों से अकड़कर बातें करने लगे और उनकी एक नहीं सुनी। किन्तु जब राजा के नौकरों को मालूम हुआ कि यह दुराग्रही ब्राह्मण है तो उन्होंने बड़ी विनय के साथ उन्हें हीरे-जवाहरात की दूकानों के बीच से उठा कर वहाँ बैठने के लिए राजी कर लिया, जहाँ गृहस्थी के फुटकर सामानों की दूकानें लगी थीं।

किन्तु उनके फटे-पुराने चीथड़ों और कूड़ा-करकट को खरीदने के लिए एक भी ग्राहक नहीं मिला। जब शाम हुई तो राजा के नौकर उनके सामने पहुँचे और विनयपूर्वक बोले—'श्रीमन्! आपकी कोई वस्तु बिकी भी या सब बिना बिके हुए ही पड़ी है?'

भिखमंगे का वेश धारण करने वाले धर्मराज ने कहा—'नहीं! कोई वस्तु नहीं बिकी।'

राजा के नौकरों ने कहा—'आपने अपनी गठरी तो खोली ही नहीं, तब भला उसे खरीदने के लिए कौन आयेगा ?'

भिखमंगे ने कहा—'इसे खुलवाकर क्या करोगे। राजा को यदि खरीदना हो तो कहो, खरीद लें। नहीं तो मैं अपना सामान लेकर वापस जाऊँगा। इसमें ऐसी कोई खास वस्तु नहीं है, जिसे कोई साधारण व्यक्ति खरीद सके।'

राजा के नौकर बोले—'श्रीमन् ! इस गठरी को बिना खोलकर देखे हुए हम भला महाराज से किस वस्तु को खरीदने के लिए कहेंगे ? आप पहले इसे हमें दिखाइये, तभी हम महाराज से इसे खरीदने की आज्ञा प्राप्त करेंगे।' फिर तो भिखमंगे ने अपनी वह पुरानी गठरी खोल दी, जिसमें फटे-पुराने गन्दे कपड़ों के चीथड़े तथा मिट्टी के बर्तनों के टूटे-फूटे टुकड़े भरे थे।

किन्तु राजा के नौकर जब उस गठरी के सामानों को देखकर हँसने लगे तो भिखमंगे ने भयंकर रूप धारण किया। अपनी नाक को फुलाकर उसने बड़ी तीखी आवाज में नौकरों को ऐसी डाँट बताई कि वे सकपका कर चुप हो गये। वह बोला—'तुम सब मूर्ख हो। तुम्हें किसी के सामान पर हँसने के लिए राजा ने यहाँ नौकर नहीं रखा है। तुम जाकर अपने राजा से कहो कि वह अगर यह सामान लेना चाहता है तो मेरे लिए तुरन्त एक हजार रुपये भिजवा दे। नहीं तो मैं अपनी गठरी सहेज कर कहीं दूसरी जगह जाऊँ।'

भिखमंगे की तेज आवाज और बोल-चाल का ढंग ऐसा था कि राजा के नौकरों में फिर से उसका परिहास करने की हिम्मत नहीं पड़ी। उन्होंने भिखमंगे से कहा कि जब तक हम लोग वापस न आयें तब तक आप हमारी प्रतीक्षा करें, कहीं जायँ नहीं और हाँ, यदि आप अपनी चीजों का दाम कुछ कम कर सकें तो वह भी अभी बता दें, क्योंकि इससे शीघ्रता होगी।'

भिखमंगा इस बार और जोर से कड़क उठा। बोला—'मैंने तुम्हारे

राजा और उसके इस बाजार की यही चर्चा सुन रखी थी कि वह झूठ नहीं बोलता और उसके बाजार में किसी वस्तु का दुबारा दाम नही लगाया जाता। अगर ये दोनों बातें झूठी है तो कोई बात नहीं और अगर सच्ची है तो मेरी गठरी की चीजों का दाम पूरे एक हजार रुपये है। इसमें से अगर एक कौड़ी भी छुड़ाना चाहोगे तो नहीं छूटेगा। बस। जल्दी करो, नहीं तो मैं चला जाऊँगा।'

भिखमंगे का तेज देखकर राजा के सभी नौकर-चाकर सहम गये। वे हवा की तरह भाग कर राजा के पास पहुँचे और उनसे भिखमंगे के साथ की सारी घटना कह सुनाई। राजा बुद्धिमान था। वह थोड़ी देर तक चुप रह कर सोचता रहा। फिर बोला—'तुम लोग शीघ्र जाओ और वह सारी वस्तुएँ मुँहमाँगा मूल्य देकर खरीद लो, कहीं वह ब्राह्मण देवता नाराज हो कर वापस न चले गये हों।'

राजा के नौकर उल्टे पैर वापस आकर देखते क्या हैं कि न तो वहाँ भिखमंगा है और न उसकी गठरी ही है। वे उसे ढूँढ़ने के लिए चारों ओर दौड़ पड़े। अन्त में दक्षिण दिशा की ओर लम्बे-लम्बे कदम रखकर जाते हुए भिखमंगे को देखकर राजदूतों ने बड़े अनुनय-विनय के साथ उसे बाजार की ओर वापस किया और पूरे एक हजार रुपये देकर उसकी गठरी खरीद ली। भिखमंगा रुपया लेकर अपनी राह चला गया और राजदूत उस गठरी को लेकर राज-भवन की ओर वापस गये। सत्यवादी राजा की आज्ञा से वह गठरी उनके सोने के कमरे की बगल में रख दी गई।

राजा की इस विचित्र आज्ञा का रहस्य किसी की समझ में नहीं आया। सब लोग हैरान थे कि आखिर क्या होने वाला है?

रात्रि हुई। समूची राजधानी में जब अंधकार फैल गया और धीरे-धीरे सोने का समय हुआ तो राजा को चिन्ता हुई कि आखिरकार इस गठरी में क्या ऐसी विशेषता है जो उस तेजस्वी भिखमंगे ने एक हजार रुपये में हमें दिया है। यही सोचते-सोचते उन्हें आधी रात बीत जाने पर भी नींद नहीं आई।

जब आधी रात का घंटा बजा और पहरेदारों की 'जागते रहो' की आवाज सुनाई पड़ी तो राजा अपनी पलंग पर मसनद के सहारे बैठ गया। उसका दिल धड़कने लगा कि कुछ न कुछ जरूर होने वाला है। इसी बीच उसने देखा कि एक सर्वाङ्गसुन्दरी युवती स्त्री, जो सोने और हीरा-जवाहरात के आभूषणों से लदी थी, उसके शयन-कक्ष से बाहर चली जा रही है।

राजा ने कड़क कर पूँछा—'देवि ! आप कौन हैं, जो इस आधी-रात के समय हमारे शयन-कक्ष में आकर वाहर चली जा रही हैं ? आपके आने का और इस तरह चुपचाप जाने का क्या प्रयोजन है ?' स्त्री ने बिना सकुचाते हुए उत्तर दिया—'राजन् ! मैं राजलक्ष्मी हूँ और बहुत दिनों आपकी सेवा में रहती आई हूँ। आप सत्यवादी धर्मात्मा महापुरुष हैं, इस कारण इतने दिनों तक मैं चुपचाप आपके पास रहती रही। किन्तु आज आपने एक भिखमंगे से दरिद्र खरीद लिया है। जहाँ दरिद्र रहता है, वहाँ मैं नहीं रह सकती। राजन् ! इसलिए मैं आपके यहाँ से जा रही हूँ। कृपा कर मुझे क्षमा करेंगे।'

राजा थोड़ी देर चुप रहा। फिर बोला—'जैसी आपकी मरजी हो वैसा करो।' लक्ष्मी चली गई और उसके जाते ही राजभवन की शोभा मलिन हो गई। चारों ओर निराशा और अन्धकार अत्यन्त घने रूप में छा गया। अभी थोड़ी ही देर बीती होगी कि राजा के शयनकक्ष के द्वार से एक अति-सुन्दर युवापुरुष बाहर निकलते हुए दिखाई पड़ा। उसके अंग-प्रत्यंग में बिजली की सी चमक थी, और वैसा अलौकिक सुन्दर पुरुष राजा ने अभी तक कभी नहीं देखा थां। राजा बोले—

'सौम्य ! आप कौन हैं, जो बिना मुझसे कुछ बताये यहाँ चले आये थे और बिना बताये यहाँ से चले जा रहे हैं ? यदि बुरा न मानें तो अपने आने और जाने का प्रयोजम मुझे बताते जायँ।'

पुरुष बोला—'राजन् ! मैं दान पुरुष हूँ। आपकी अटूट सत्यवादिता और धर्मनिष्ठा के कारण इतने दिनों तक मैं आपकी सेवा में दत्तचित्त

रहा। मैं लक्ष्मी का अनुगामी हूँ। आज लक्ष्मी आप से रूठ कर चली गई हैं, अतः मैं भी उन्हीं के पीछे-पीछे जाने के लिए विवश हूँ। कृपया मुझे क्षमा करें।'

राजा बोला—'बहुत अच्छा। आप जा सकते हैं।' थोड़ी देर बाद, जब कि राजा इस घटना पर सोच-विचार कर ही रहा था कि एक दूसरा उतना ही सुन्दर और वैसा ही युवक पुरुष फिर राजा के शयनकक्ष से बाहर निकलता हुआ दिखाई पड़ा। राजा ने उससे भी पूछा कि आप कौन हैं, कैसे यहाँ आये थे और क्यों बिना पूछे चले जा रहे हैं?

पुरुष बोला—'महाराज! मैं सदाचार हूँ। आप जैसे सत्यवादी और धर्मात्मा राजा के यहाँ लक्ष्मी और दान के साथ बड़े सुख से मैं आपकी सेवा में लगा था। दरिद्र के निवास के कारण आप से रूठ कर जब लक्ष्मी और दान जा चुके तो मैं आपके यहाँ जीवित नहीं रह सकता, क्योंकि लक्ष्मी ही मेरी पोषिका है और दान ही मेरा दाहिना हाथ है।'

राजा ने सदाचार को भी 'बहुत अच्छा' कहकर लक्ष्मी और दान के साथ चले जाने की आज्ञा दे दी। राजा ने देखा कि इन तीनों के चले जाने के बाद राजभवन में चारों ओर से दारिद्रय का साम्राज्य-सा दिखाई पड़ रहा है। वह पहले की रौनक और वह पहले का उत्साह उनके शरीर में भी नहीं रह गया है। इसी बीच उन्हें फिर एक वैसा ही युवापुरुष अपने शयनकक्ष से बाहर जाता हुआ दिखाई पड़ा। इस पुरुष की विशेषता यह थी कि इसके चारों ओर उस घने अँधेरे में भी चाँदनी जैसी चमक छिटक रही थी।

राजा ने पूछा—'महापुरुष! आप कौन हैं, अपना परिचय दिये बिना ही आप हमारे राजभवन में क्यों आये थे और क्यों अब चले जा रहे हैं। मैं देख रहा हूँ कि आपके कारण हमारे राजभवन की बड़ी शोभा है। यदि अनुचित न हो तो आप इसे छोड़ कर कहीं और न जायँ और यदि जाना ही चाहते हैं तो इसका कारण अवश्य बताएँ।'

पुरुष मुस्कराते हुए बोला—'राजन्! मैं यश हूँ। आप जैसे धर्मात्मा

और सत्यवादी की सेवा के लिए ही विधाता ने मेरी रचना की है। मैं आपका चिर संगी रहा हूँ; किन्तु लक्ष्मी, दान और सदाचार ये मेरे अभिन्न हैं। इनके बिना मैं आपकी सेवा नहीं कर सकता राजन्! अतः क्षमा कर मुझे भी वहाँ जाने की अनुमति दें, जहाँ ये तीनों जा चुके हैं।'

राजा ने कहा—'ठीक है, यदि आपको ऐसा ही उचित लगता है तो आप जा सकते हैं।' इसके कुछ क्षण बाद सत्यवादी राजा के शयनकक्ष से एक वैसा ही सुन्दर पुरुष फिर निकला। किन्तु इसके मुख पर न तो प्रसन्नता की रेखा थी और न अन्य पूर्वगामी पुरुषों के अंगों जैसी चंचलता थी। बहुत धीमी गति से शोकमग्न की तरह वह शयन-कक्ष से बाहर निकला जा रहा था, किन्तु पीछे मुड़ कर बार-बार राजा की ओर देखता भी जा रहा था।

इस पुरुष का जाना देखकर राजा को जाने क्यों अपने आप बड़ी व्यग्रता अनुभव हुई। वह उतावले स्वर में बोल पड़ा—'महापुरुष! आप अपना परिचय दिये बिना इस राजभवन से बाहर नहीं जा सकते। मैं देख रहा हूँ कि आपके जाने के साथ ही मेरे हृदय की धड़कन भी न जाने क्यों तीव्र होती जा रहो है। कृपा कर आप बताएँ कि आप कौन हैं और मुझसे रूठ कर क्यों चले जा रहे हैं?'

पुरुष कुछ क्षणों तक तो अनमना-सा देखता रह गया, जैसे उसे बोलने के लिए कोई शब्द ही न मिल रहा हो। किन्तु थोड़ी देर बाद वह बोला—'राजन्! मैं तो सत्य हूँ। मैं आपका जन्मान्तर संगी रहा हूँ। आप इस जन्म के नहीं, पूर्व जन्म के भो धर्मात्मा और सत्यवादी रहे हैं, अतः मैं आपके साथ रहता रहा हूँ। किन्तु आज मेरे सामने बड़ी विषम स्थिति है। आपके यहाँ से लक्ष्मी, दान, सदाचार और यश—सभी जा चुके हैं, जो मेरे प्राणों के समान प्यारे हैं। इनके बिना मैं जीवित नहीं रह सकता। अतः मैं भी उन्हीं के पीछे-पीछे जा रहा हूँ, यद्यपि मुझे आपका संग छोड़ने में बड़ी पीड़ा हो रही है।'

राजा यह सुनते ही पलंग से उठ कर दौड़ पड़ा और सत्य के चरणों

में शीश नवाकर बोला—'महापुरुष ! मैंने तो जीवन भर केवल आपकी आराधना की है और केवल आपकी मर्यादा-रक्षा के लिए लक्ष्मी, दान, यश और सदाचार—किसी के जाने की तनिक भी चिन्ता नहीं की। अतः आप मुझे अकेला छोड़कर नहीं जा सकते और यदि जाना ही है तो मुझे भी अपने संग लेते चलें।'

सत्य-पुरुष बोला—'राजन् ! आपके घर में दरिद्र का निवास हो चुका है। जहाँ दरिद्र रहता है, वहाँ लक्ष्मी नहीं रहती, जहाँ लक्ष्मी नहीं रहती, वहाँ दान नहीं टिक सकता और जहाँ दान का निवास नहीं, वहाँ सदाचार नहीं रह सकता और जहाँ सदाचार नहीं रहता, वहाँ यश नहीं रहता और जहाँ ये सब नहीं रहते, वहाँ मैं कैसे रह सकूँगा? तुम्हीं बताओ, मैं तुम्हारे यहाँ कैसे रह सकता हूँ?'

राजा को बोलने में दुविधा नहीं हुई। वह तुरन्त बोल उठा।

'महापुरुष ! यह सब आप क्या कह रहे हैं ? मैंने तो उस दरिद्र को भी केवल आपकी आराधना के लिए ही खरीदा था, जिसके कारण लक्ष्मी चली गई है। अपने राज्य की जनता और व्यापारियों की सुख-सुविधा के लिए मैंने यह सत्य-प्रतिज्ञा कर रखी थी कि कोई भी वस्तु बाजार में आकर यहाँ से बिना खरीदी हुई वापस नहीं जा सकती। जो भी वस्तु होगी, न बिकने पर उसे मैं खरीद लूँगा, भले ही वह किसी काम में आये या न आये। अपनी उसी सत्य-प्रतिज्ञा के अनुसार ही मैंने उस दरिद्र को भी खरीदा है, जिसके कारण लक्ष्मी रूठ कर चली गई है और उसी के साथ दान, सदाचार और यश भी चले गये हैं। किन्तु इन सबके जाने की मुझे रत्ती भर चिन्ता नहीं है, क्योंकि मैं तो केवल आपकी आराधना के बल पर इन सब की कोई परवाह नहीं करता। यदि आपका बल मुझे मिलता रहा, तो मैं दरिद्र और भिखारी बनकर भी अपना जीवन बिताने में गौरव समझता हूँ। अब आप ही बताइये कि आप मुझे छोड़ कर क्यों जाना चाहते हैं ?'

सत्यवादी राजा की यह बातें सुनकर सत्य बोला—'राजन् ! यदि

ऐसी बात है तो मैं आपको त्याग कर कहीं अन्यत्र नहीं जाऊँगा । मेरे लिए ही जब आपने इन सबके त्याग की चिन्ता छोड़ दी है तो मैं आपके साथ विश्वासघात नहीं करूँगा ।' ऐसा कहकर सत्य राजा के शयनकक्ष के बाहर से भीतर की ओर वापस आकर अन्तर्धान हो गया ।

उसके थोड़ी ही देर बाद राजा ने उस तीसरे सुन्दर युवापुरुष को सुप्रसन्न मन से वापस लौटते देखा, जिसने अपना परिचय यश के रूप में दिया था । उसे इस प्रकार लौटते देखकर राजा ने पूछा—'भद्र ! आप कौन हैं और यहाँ क्यों आये हैं ?'

पुरुष बोला—'राजन् ! मैं यश हूँ, जो अभी आपको छोड़कर दान और सदाचार के साथ लक्ष्मी के पीछे-पीछे चला गया था, किन्तु मैं तो वास्तव में 'सत्य' का अनुचर हूँ । कोई मनुष्य चाहे जितना ही सदाचारी, दानी और लक्ष्मीवान क्यों न हो, किन्तु बिना सत्य के उसे मैं नहीं मिल सकता । मैं तो वहीं रहता हूँ, जहाँ सत्य रहता है, भले ही वहाँ लक्ष्मी का वास न हो ।'

राजा बोले—'भद्र ! बहुत अच्छा । मैं आपका स्वागत करता हूँ ।' इसके थोड़ी ही देर बाद दूसरा सुन्दर पुरुष भी सुप्रसन्न चित्त से उसी स्थान पर वापस लौटता हुआ दिखाई पड़ा । राजा ने पूछा—'महानुभाव ! आप कौन हैं और यहाँ क्यों चले आ रहे हैं ?'

पुरुष बोला—'राजन् ! मैं सदाचार हूँ और अभी कुछ ही देर पहले मैं दान के साथ लक्ष्मी के पीछे-पीछे आपको छोड़कर चला गया था । किंतु जब सत्य ने आपको नहीं छोड़ा तो मैं भी आपको नहीं छोड़ूँगा । क्योंकि मैं तो वास्तव में सत्य का अनुगामी हूँ और यश से मेरी बड़ी मित्रता है । सत्य और यश को छोड़ कर मुझे कहीं अन्यत्र जाना उचित नहीं लगता । चाहे कोई व्यक्ति कितना ही दानी और लक्ष्मीवान क्यों न हो, यदि वह सत्यवादी और यशस्वी नहीं है तो वह सदाचारी नहीं रह सकता । सत्य के बिना सदाचार का ठिकाना अन्यत्र नहीं । अतः अब तो मैं भी आपको छोड़कर कहीं अन्यत्र नहीं जाऊँगा ।'

राजा ने मुस्कराते हुए सदाचार से कहा—'भद्र ! बहुत अच्छा ! मैं आपका स्वागत करता हूँ ।'

इसके बाद बड़े संकोच से दान भी वापस आया और राजा ने उससे भी वापस आने का कारण पूछा ।

दान बोला—'राजन् ! मैं लक्ष्मी का अनुगामी अवश्य हूँ, किन्तु बिना सत्य के मैं क्षण भर भी नहीं रह सकता । जहाँ सत्य सद्भाव नहीं है, वहाँ दान जीवित नहीं रह सकता और वह दान, दान ही नहीं है, जो बिना सद्भाव के दिखाने मात्र के लिए दिया जाता है । आप में सत्य की प्रतिष्ठा है, अतः मैं भी आपको छोड़कर कहीं अन्यत्र नहीं जाऊँगा ।'

सत्यवादी राजा ने दान का भी हार्दिक स्वागत किया और वापस चले आने पर उसका बड़ा अनुग्रह माना । इसके कुछ ही देर बाद लक्ष्मी भी वापस आई । लज्जा के कारण उसका मुख नीचे को लटक गया था और उसके कपोल तथा नेत्रों में लालिमा दौड़ गई थी । राजा ने उससे भी पूर्ववत् पूछा—

'देवि ! आप कौन हैं, जो बिना बुलाये वापस चली आ रही हैं ?' लक्ष्मी ने संकोच से उत्तर दिया—'राजन् ! मैं आपकी राजलक्ष्मी हूँ । दरिद्र का वास होने के कारण मैं रूठ कर चली गई थी, किन्तु आप में सत्य का अविचल निवास है । यश, सदाचार और दान भी, जो मेरे प्रिय साथी हैं, मेरा साथ छोड़कर वापस लौट आये हैं, अतः मैं अकेली कहीं अन्यत्र नहीं जा सकती ।'

राजा का स्वाभाविक अमर्ष जाग उठा । वह कुछ रूखे स्वर में बोला—'किन्तु देवि ! यहाँ तो दारिद्र्य का निवास है, भला आप उसके साथ कैसे रह सकेंगी ?'

लक्ष्मी मर्माहत हुईं । बोलीं—'देव ! कुछ भी हो, मैं सत्य, यश, दान और सदाचार को छोड़कर नहीं जा सकती । मेरा अपराध क्षमा करें ।'

सत्यवादी राजा लक्ष्मी को कुछ उत्तर देने ही जा रहे थे कि पीछे से

उन्हें वही भिक्षुक वेशधारी ब्राह्मण आता हुआ दिखाई पड़ा, जिसने दरिद्र की गठरी राजदूतों के हाथ बेची थी।

सत्यवादी राजा ने उठ कर ब्राह्मण का स्वागत करते हुए विनयपूर्वक पूछा—'भगवन्! आप कौन हैं और किस प्रयोजन से यहाँ कष्ट उठा कर आ रहे हैं?'

ब्राह्मण ने राजा की यह बात सुनकर मुस्कराते हुए कहा—'राजन्! मैं धर्म हूँ और आप की परीक्षा लेने के लिए स्वर्ग से उतर कर धरती पर आपके पास आया था।'

ब्राह्मण के ऐसा कहते ही राजभवन में चारों ओर आलोक फैल गया और उस ब्राह्मण के स्थान पर प्रत्यक्ष धर्मराज विराजमान दिखाई पड़ने लगे। उनके अंग-प्रत्यंग में इतना तेज था कि दिशाएँ प्रसन्न हो उठीं, चारों ओर सुगन्ध की लहरें फैल गईं और उस अँधेरी रात्रि में मध्याह्न के समान प्रकाश फैल गया।

राजा ने धर्मराज का स्वागत करते हुए कहा—'भगवन्! आपको यह सब कष्ट क्यों उठाना पड़ा—क्या यह मैं जान सकता हूँ?'

धर्मराज बोले—'राजन्! आपके सत्य की चर्चा से देवलोक में खलबली मच गई थी। अतः देवताओं ने मुझे आपकी परीक्षा लेने के लिए भेजा था कि वास्तव में आप कितने सत्यनिष्ठ हैं? मैंने ही उस भिक्षुक ब्राह्मण का वेश धारण कर एक हजार रुपये में दरिद्र की गठरी आपके दूतों के हाथ बेची थी। किन्तु उस दरिद्र का भी आपने अपनी सत्यनिष्ठा के कारण स्वागत किया। आपने अपनी राज-लक्ष्मी, दान, सदाचार और यश की भी चिन्ता नहीं की। अपने सत्य के बल से आपने मुझे भी जीत लिया। मैं आप पर परम प्रसन्न हूँ और वरदान देने के लिए यहाँ आया हूँ। आज्ञा करें, मैं आपका कौन-सा अभीष्ट पूरा करूँ?'

राजा ने कहा—'भगवन्! मुझे केवल आपकी कृपा चाहिए। इस धरती पर ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो मुझे सुलभ न हो। मैं तो यही

चाहता हूँ कि जब तक मेरा यह शरीर रहे, तब तक सत्य और धर्म में मेरी अटूट निष्ठा बनी रहे।'

धर्मराज बोले—'राजन्! आप सचमुच बड़े चतुर और नीतिज्ञ हैं। इस धरती पर सत्य के सहारे संसार की सभी वस्तुओं को सुलभ बनाया जा सकता है।'

यह कह कर धर्मराज वहीं अन्तर्धान हो गये और सत्यवादी राजा ने देखा कि उनके जाने के बाद धरती और आकाश में जो चारों ओर प्रकाश फैला हुआ था, वह उनके अपने हृदय में भी फैल रहा है और वायु के झोंकों में हिम जैसी शीतलता और सुगन्धि भर उठी है।

रेवती पर भरद्वाज की कृपा

प्राचीन काल में महर्षि भरद्वाज के समय में उन्हीं के पूर्वजों के एक वंशज महातपा नाम के ऋषि थे। वे बड़े विद्वान् आचारनिष्ठ तथा तपस्वी प्रकृति के थे। वेदों और वेदांगों पर उनका एकाधिकार था। जिस प्रकार के वह तपस्वी और ज्ञानी थे, उसी प्रकार कर्मकाण्डों और लौकिक आचार-विचारों में भी उनका बड़ा यश था। कहीं भी यज्ञ, दान और हवन का प्रसंग उपस्थित होता था तो वह अवश्य बुलाये जाते थे और अपनी विद्वत्ता, गंभीरता तथा तपश्चर्या से उपस्थित ऋषियों और ऋत्विजों में शीघ्र ही सम्माननीय पद प्राप्त कर लेते थे। वह बड़े शान्त प्रकृति के संयमी और विवेकवान पुरुष थे और बड़े सुख, सन्तोष तथा शान्ति के साथ अपनी गृहस्थी चलाते थे।

महातपा की स्त्री का नाम था प्रजावती और वह भी अपने पति के समान धर्म-परायण तथा शान्त प्रकृति की महिला थीं। स्वल्प सन्तुष्ट महातपा की गृहस्थी में यद्यपि अभावों की कमी नहीं थी और प्रतिदिन कुछ न कुछ चीजें घटी ही रहती थीं, तथापि प्रजावती की सुव्यवस्था के कारण कभी कोई काम रुकता नहीं था। अपने पड़ोसियों की दृष्टि में वह बड़े सुख के साथ अपने परिवार का निर्वाह करती थीं। महातपा को दो सन्तानें थीं। एक पुत्र और एक कन्या। पुत्र का नाम था कृश और कन्या का नाम था रेवती। कृश भी अपने पिता के समान परम बुद्धिमान, प्रतिभाशाली तथा आचारवान था, किन्तु उसका गौर शरीर बाल्यकाल में बहुत ही दुर्बल था। वह इतना सुन्दर था और उसके अंग-प्रत्यंग ऐसे थे मानों सुवर्ण के ढाँचे में ढाले गये हों, किन्तु वह दुबला भी इतना था कि मुखमण्डल को छोड़कर शेष अंगों को देखने में डर लगता था। उसके तेजस्वी मुखमण्डल की छवि देखकर लोग मोहित हो जाते थे। चंचल

कमल दल के समान रक्तिम और बड़ी-बड़ी उसकी आँखों में मानों जादू बसता था। उसकी सुघड़ दीर्घ नासिका और प्रशस्त ललाट के नीचे उसके बालारुण की भाँति तेजस्वी कपोल और मुख की छवि को देखकर दर्शक मुग्ध रह जाते थे। उसके घुँघराले बालों में भ्रमरों की श्यामता थी और उसी प्रकार अति सुरीली और मधुर उसकी वाणी भी थी। यद्यपि कृशांग होने के कारण उसका नाम कृश रखा गया। किन्तु वय:प्राप्त होते ही उसकी दुर्बलता धीरे-धीरे दूर हो गई और अंग-प्रत्यंग में अपने उचित विकास के कारण वह और भी सुन्दर हो गया। अपने अनुपम सौन्दर्य और यौवन के अनुरूप कृश को बुद्धि और प्रतिभा भी अनुपम मिली थी। जो विषय उसके सहाध्यायियों को दिन भर में कण्ठस्थ न होता, उसे कृश घड़ी दो घड़ी में ही हस्तामलक कर लेता।

किन्तु महातपा की कन्या रेवती अपने भाई के ठीक विपरीत अतीव कुरूप तथा कर्कशा थी। उसके स्वरूप और चरित्र पर उसके माता-पिता तथा भाई का तनिक भी प्रभाव नहीं था। वह अतीव काली थी और उसकी नासिका तथा दाँत बड़े भद्दे थे। आँखें बहुत छोटी-छोटी थीं, और उनका मटमैला रंग ऐसा भद्दा मालूम पड़ता था, मानों वह क्रोध से सदैव भरी रहती थी। उसकी वाणी भी बड़ी कठोर थी और थोड़ी ही देर की बातचीत के बीच में वह इतनी उद्दण्ड हो जाती थी कि लोग डर जाते थे। बात-बात में रोना और आँसू बहाना तो वह जानती ही थी, गाली-गलौज करना और साधारण क्षोभ में भी भयंकर शाप दे देना उसके स्वभाव में हो गया था। वह किसी को भी प्रिय नहीं थी। स्वयं महातपा और प्रजावती भी उससे डरते रहते थे।

कृश जब पढ़-लिखकर सयाना हुआ तो उसके विवाह के लिए बड़े-बड़े ऋषियों और ब्राह्मण परिवारों से सम्बन्ध की बातें आने लगी। उसके अनुपम सौन्दर्य और विद्वत्ता के कारण सभी ब्राह्मण उसे अपनी कन्याएँ देने में अपना और कन्याओं का सौभाग्य मानते थे, किन्तु महातपा ने अपनी पत्नी प्रजावती के परामर्श से कृश का विवाह सम्बन्ध कहीं स्वीकार नहीं

किया। उन्हें भय था कि कृश का विवाह तो कहीं न कहीं अच्छी जगह तय हो ही जायगा, किन्तु पहले रेवती का विवाह शीघ्र ही कर लेना चाहिए। क्योंकि रेवती जैसी कुरूप और कर्कशा कन्या को सहसा लेने के लिए कोई वर तैयार न होगा।

यद्यपि उस युग में दायज-दहेज की प्रथा आज जैसी नहीं थी, तथापि कृश की गृहस्थी ऐसी थी कि उसमें प्रति दिन के भोजन का प्रबन्ध ही बड़ी कठिनता से होता था। वे चाहते तो अपनी विद्वत्ता, लोक-सम्मान तथा चतुरता से अपनी गृहस्थी को इतना समृद्ध तो बना ही सकते थे कि कन्या का विवाह सुगमता से किया जा सके, किन्तु वे इतने अपरिग्रही और स्वल्प सन्तोषी स्वभाव के थे कि दैनिक आवश्यकता से अधिक धन-धान्य के संग्रह में उन्हें अपने और परिवार के पतन का भय होने लगता था। कन्या के विवाह में जामाता और कन्या को नया घर बसाने के लिए कुछ न कुछ धन-धान्य, गृहस्थी के आवश्यक साधन और गौओं का देना उस युग में भी आवश्यक था, अतः महातपा और उनकी पत्नी प्रजावती का इरादा था कि कृश का सम्बन्ध किसी ऐसे स्थान पर हो, जहाँ से कन्या के विवाह में देने योग्य वस्तुएँ मिल सकें। क्योंकि रेवती की कुरूपता को भी अधिक दान- दहेज द्वारा ही उपादेय बनाया जा सकता था।

कृश के विवाह के लिए आने वाले व्यक्तियों को जब महातपा के इस इरादे का पता लगा तो वे हताश होकर लौट गये, क्योंकि उस युग में धन-धान्य से सम्पन्न गृहस्थी वाले बहुत कम ब्राह्मण होते थे। जब कृश के विवाह की चर्चा मन्द हो गई और बहुत दिनों तक कोई ब्राह्मण सम्बन्ध की बातचीत के लिए नहीं आया तो महातपा को रेवती के शीघ्र विवाह की चिन्ता हुई, क्योंकि कृश तो पुत्र थे। उनका विवाह जब चाहे तब हो सकता था, किन्तु रेवती जैसी कुरूप और कर्कशा कन्या को सयानी हो जाने पर कोई स्वीकार करेगा—इसमें सन्देह था।

रेवती के विवाह में एक बड़ी बाधा और थी, और वह थी महातपा की स्पष्टवादिता या सत्यप्रियता। जब वह रेवती के विवाह योग्य वर

ढूंढ़ने के लिए बाहर निकले तो कहीं सुयोग्य वर मिलने पर जब उनसे कन्या के सम्बन्ध में जानकारी के लिए कुछ पूछा जाता तो वे साफ-साफ बता देते कि—'दुर्भाग्यवश हमारी कन्या रेवती कुरूप और कर्कशा है। वह बहुत पढ़-लिख भी नहीं सकी है और उसके विवाह में दान-दहेज के लिए मेरे पास अभी तक कोई साधन भी नहीं है किन्तु एक बात मैं जानता हूँ कि जो कोई उस कन्या के साथ विवाह करेगा, उसे कई सुयोग्य पुत्र पैदा होंगे और उसका जीवन सुखी होगा।'

किन्तु भविष्य की आशा पर अपने वर्तमान को बिगाड़ने का दुःसाहस बहुत कम लोग करते हैं। स्वयं पिता द्वारा वर्णित अत्यन्त कुरूप अशिक्षित और कटुवादिनी कन्या से विवाह करके अपने जीवन को दुःखमय बनाने के लिए भला कौन नवयुवक वर या पुत्र-हितैषी पिता तैयार होता। परिणाम यह हुआ कि बेचारे महातपा कई महीनों तक चारों ओर दौड़-धूप करके परेशान हो गये, किन्तु उनकी कन्या से विवाह करने के लिए कोई भी ब्राह्मण युवक या ब्राह्मण तैयार नहीं हुआ। रेवती दिनों-दिन सयानी होती जा रही थी, उसकी आदतों में भी सुधार का कोई लक्षण नहीं आ रहा था। अतः महातपा और उनकी स्त्री प्रजावती तथा पुत्र कृश की भी नींद हराम होने लगी। वे ऐसे हताश से हो गए कि कुछ सुझाई ही नहीं पड़ रहा था। धीरे-धीरे पुत्री के विवाह की यह दुश्चिन्ता महातपा के शिर पर ऐसी चढ़ी कि वह घुल-घुल कर बहुत क्षीण हो गये और प्रजावती भी उनके गिरते हुए स्वास्थ्य के कारण बड़ी चिन्तित रहने लगी।

एक दिन तीनों प्राणी एकान्त में बैठ कर रेवती के विवाह की समस्या को सुलझाने का उपाय सोच रहे थे कि इसी बीच देव-प्रेरित प्रजावती ने यह बात कही—

'नाथ! आपके वंशज महर्षि भरद्वाज का आश्रम यहीं समीप में ही है। वहाँ भूमण्डल के कोने-कोने से सहस्रों ऋषिकुमार विद्याध्ययन के लिए एकत्र होते हैं। भरद्वाज आपको बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते हैं—

यह मैं जानती हूँ। यदि उनकी थोड़ी भी कृपा हो जाय तो रेवती का हाथ पीला होने में कोई सन्देह नहीं रहेगा। मैं सोचती हूँ कि हम सब उनके आश्रम को ही चले चलें। वहाँ पहुचने पर हमारी स्थिति उनसे छिपी न रहेगी और वे ऐसे दयालु तथा परमार्थी हैं कि हमारे इस पारिवारिक संकट को दूर करने में कोई प्रयत्न उठा न रखेंगे। और यही नहीं, मैंने तो यह भी सुना है कि भरद्वाज के हाथों में और तपस्या में यह भी संभव है कि किसी न किसी उपाय द्वारा रेवती की प्रवृत्ति और आकृत्ति में भी परिवर्तन हो जाय। उसकी कुरूपता और दुर्वचन का दोष यदि भरद्वाज की कृपा से दूर हो जायगा तो उसके विवाह की अन्य कठिनाइयों को दूर करने में विलम्ब न लगेगा।'

प्रजावती की इस बात में महातपा को भी सारांश दिखाई पड़ा। कोई दूसरा अवसर होता तो भरद्वाज की कृपा के भरोसे पर अपने को न छोड़ते, किन्तु रेवती के विवाह-प्रसंग में वे इतने निराश और उद्विग्न हो चुके थे कि तुरन्त ही भरद्वाज के आश्रम की ओर परिवार समेत चलने के लिए सहमत हो गये। उन्हें भी यह दृढ़ विश्वास हो गया कि भरद्वाज जैसे निकट आत्मीय एवं सर्वसमर्थ महर्षि के आश्रम में जाने पर और उनसे अपनी सारी विपद् गाथा सुनाने पर अवश्य ही यह संकट दूर हो जायगा। उन्होंने ऐसे-ऐसे रोगों और दोषों को दूर करके अक्षय यश प्राप्त किया है, जिन्हें दूर करने की क्षमता इस भूतल पर किसी अन्य में नहीं है। तो उनकी तनिक-सी कृपा-दृष्टि होने पर रेवती की कुरूपता और दुर्वचन का दोष भी दूर हो सकता है। वे हैं भी तो हमारे ही वंश के दीपक। मेरे प्रति सदैव उनका आदर-भाव देखा गया है। जब कभी मैं उनके आश्रम में गया हूँ, उन्होंने मुझे अपने असंख्य शिष्यों के सम्मुख अर्घ्यपाद्यादि देकर सम्मानित किया है। प्रत्येक बार अधिक से अधिक दिनों तक अपने आश्रम में टिकाने का भी उनका आग्रह होता रहा है। अतः उनके यहाँ चलकर यदि हम अपनी विपदा सुनायँगे तो उसे दूर करने के लिए वे सहर्ष तैयार मिलेंगे।

सलाह पक्की हो गई और दूसरे ही दिन ब्राह्मवेला में अपने अन्य परिजनों और पुरवासियों की सहमति लेकर ऋषि महातपा, उनकी स्त्री प्रजावती और पुत्री रेवती ने भरद्वाज आश्रम को जाने वाला मार्ग पकड़ा और उनके आश्रम पर केवल उनके युवापुत्र कृश रह गये। भरद्वाज आश्रम बहुत दूर नहीं था, वे लोग सन्ध्या होने के कुछ पूर्व ही महर्षि भरद्वाज के आश्रम में पहुँच गये। उनका आश्रम क्या था, पूरा तपोवन था। उसमें चारों ओर भूमण्डल के कोने-कोने से आने वाले छात्रों की भीड़ लगी थी। महर्षि भरद्वाज अपने छात्रों को पढ़ा कर अभी-अभी निपटे ही थे कि उन्हें अपने आश्रम में सपरिवार महातपा के आगमन का संवाद मिला। अपने प्रमुख शिष्यों के साथ उन्होंने महातपा की अगवानी की और अर्घ्य पाद्यादि से सबको सन्तुष्ट कर उनके आवास का एक कुटीर में सुप्रबन्ध किया। उन जैसे त्रिकालदर्शी और अनुभवी से महातपा के सपरिवार आगमन का प्रयोजन छिपा नहीं था, यद्यपि उन्होंने अपनी ओर से महातपा अथवा उनकी स्त्री से इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं पूछा। भोजनादि द्वारा भली-भाँति सन्तुष्ट कर लेने के बाद भरद्वाज ने महातपा एवं उनके परिवार से अपने आश्रम में टिक कर कुछ दिनों तक विश्राम करने का जब आग्रह किया तो महातपा ने अपने आगमन के उद्देश्य पर प्रकाश डालने की इच्छा से कहा—

'आयुष्मन्! हमने किसी विशेष कार्य में सहायता लेने के लिए ही इतनी दूर आकर आपको कष्ट दिया है। आप भी भोजनादि से सन्तुष्ट हो जायँ तो हम लोग अपने आगमन का उद्देश्य आपको बतायेंगे।'

भरद्वाज बोले—'पूज्य तात! अभी इतनी जल्दी भी क्या है? आप दूर से आये हैं, थके-माँदे हैं। दो-चार दिन सुस्थिर चित्त से विश्राम लें, फिर कभी उस विषय पर बातें हो जायगी।

महातपा और उनके परिवार की सुविधा का सब प्रबन्ध करा कर भरद्वाज जब अपने आश्रम को गये तो बहुत दिनों बाद प्रजावती और महातपा ने सुख और सन्तोष की साँस ली। उन्हें विश्वास हो गया कि

अब उनकी विपदा अवश्य कट जायगी। वे बड़े सुख और सम्मान के साथ भरद्वाज आश्रम में रहने लगे और दो ही चार दिनों के भीतर अपनी गृहस्थी के दुखों को भूलने से लगे। किन्तु जब कई दिन बीत जाने के बाद भी महामुनि भरद्वाज ने अपनी ओर से महातपा से उनके आगमन का वह प्रयोजन नहीं पूछा तो वे बड़े चिन्तित हुए। दिन-पर-दिन बीतते जा रहे थे और एक-एक दिन के साथ महातपा और प्रजावती पर पुत्री के विवाह की चिन्ता का भार बढ़ता जा रहा था। अब धीरे-धीरे उन्हें भरद्वाज आश्रम में प्राप्त सुविधाएँ दुःख देने लगीं, अपनी उपेक्षा देखकर वे मन ही मन ग्लानि से भरने लगे और जब यह स्थिति असह्य हो उठी तो एक दिन प्रातःकाल जब भरद्वाज अपने शिष्यों के कुटीरों की ओर अकेले चले जारहे थे तो महातपा ने आगे बढ़ कर उनसे बातचीत करने का इरादा किया। महातपा को अपनी ओर आता देखकर भरद्वाज रुक गये और बड़े आदर तथा सम्मान के साथ उनका कुशल-समाचार पूछते हुए बोले—

'पूज्य तात् ! मैं एक ही दो दिन में आपकी सेवा में उपस्थित होने वाला था, किन्तु कुछ विशेष कारण से रुक गया। आपका मन मालूम होता है, हमारे आश्रम मे नहीं लग रहा है। क्योंकि बाहर की चेष्टा उदास है और आँखों में भारीपन है।'

महातपा का सारा दुःख भरद्वाज की इतनी ही बातों में गल गया। प्रसन्नता से वे भर कर बोले—

'नही आयुष्मन् ! हमारा मन तो यहाँ बहुत लग रहा है, किन्तु अपनी जिस विपदा को लेकर हम आपके यहाँ आये हैं, उसका भार इतना असह्य है कि जब तक उसे दूर करने का कोई उपाय आप नहीं करते हैं तब तक हमें वास्तविक प्रसन्नता मिल ही नहीं सकती। हम इतने चिन्तित हैं तात ! कि जप-तप में भी हमारा मन नहीं लगता और प्रजावती तो रात में भी उठ-उठ कर बैठ जाती है।'

महातपा को इसके आगे कुछ कहने की आवश्यकता नहीं थी। क्योंकि भरद्वाज की दृष्टि में उनके सपरिवार आगमन का प्रयोजन छिपा नहीं

था, किन्तु कन्या के विवाह की चिन्ता से वे इतने हतप्रभ हो गये थे कि अपने प्रयोजन को और अधिक सुस्पष्ट करने की इच्छा से पुनः बोले—

'तात् ! आप ही रेवती के विवाह की चिन्ता..........

भरद्वाज ने महातपा को इस विषय पर और आगे बोलने से मना करते हुए आदरपूर्वक कहा—

'पूज्य तात् ! अपने प्रयोजन के सम्बन्ध में आपको और अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि मैं आप लोगों की चिन्ता को समझता हूँ, किन्तु मेरी अपनी भी विवशता है। आश्रमों की अपनी मर्यादा होती है। यहाँ पर देश-देशान्तर के जो भी छात्र पढ़ते हैं, उनमें से किसी से भी मैं रेवती के साथ विवाह करने की बात नहीं कह सकता। क्योंकि इससे मेरा अपयश बढ़ेगा। सब लोग यही कहेंगे कि अपने प्रभाव का दुरुपयोग करके मैं आश्रमों की मर्यादा को भंग कर रहा हूँ। किन्तु मुझे मालूम है कि आपकी चिन्ता का बोझ दूर करने का उपाय शीघ्र ही होगा। आप मेरी ओर से माता को भी समझा दें कि अभी आप लोगों को यहाँ रुककर कुछ दिनों तक और प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। रेवती के उपयुक्त एक बालक यहाँ शीघ्र ही आयेगा।'

महातपा को महामुनि भरद्वाज के इस आश्वासन से बड़ा सन्तोष हुआ। उन्होंने प्रजावती से भी आज की बातचीत का सारांश जब कह सुनाया तो वह भी प्रसन्न हो उठी। अब वे बड़ी शान्ति से भरद्वाज के आश्रम में रहने लगे और जब कभी भरद्वाज से भेंट होती तो इस सम्बन्ध में कोई चर्चा भी न करते।

धीरे-धीरे कुछ दिन इसी प्रकार बीत गये। एक दिन भरद्वाज मुनि अपने शिष्यों को पढ़ा रहे थे कि इसी बीच उनके समीप सोलह वर्षों का एक सर्वाङ्ग सुन्दर ब्राह्मण कुमार आया। उसका भव्य मुखमण्डल ब्रह्मतेज की चमक से प्रभासमान था, विशाल नेत्रों में गंभीरता थी, और उसकी लम्बी और पुष्ट भुजाएँ, विस्तृत और ऊँचे वक्षस्थल, चौड़े कन्धे और सुवर्ण के समान चमकते हुए गौर वर्ण में इतना आकर्षण भरा था कि

ज्यों ही उसने झुककर भरद्वाज को साष्टांग प्रणाम किया, त्यों ही अपनी शिष्य मण्डली के साथ वे उसे थोड़ी देर तक अपलक नेत्रों से निहारने लगे। उसकी गति और वाणी में गंभीरता के साथ संयम और शान्ति थी, तथा व्यवहार में विनम्रता के साथ दक्षता थी। भरद्वाज की समुपस्थित शिष्य मण्डली का भी उसने नतशिर होकर अभिवादन किया और गुरु के चरणों के समीप उनकी आज्ञा से बैठते हुए उसने अपना परिचय दिया—

'पूज्य गुरुदेव ! मैं कठ-प्रदेश का निवासी ब्राह्मण कुमार हूँ। मेरे पिता सामान्य गृहस्थ हैं। मैंने अपने समीपवर्ती आश्रम में आठ-नौ वर्षों का अध्ययन पूरा कर लिया है। वहीं अपने गुरु से मैंने आपके महान् आश्रम की प्रशंसा सुनी और उनके प्रतिदिन के व्याख्यान में आपके गंभीर ज्ञान की महिमा से प्रभावित हुआ। मेरी हार्दिक इच्छा है कि मैं भी आपके चरणों के निकट बैठकर आपकी ज्ञानराशि का कुछ कण प्राप्त करूँ। देश-देशान्तर से आने वाले आपके सहस्रों शिष्यों की भाँति मैं भी यही उत्कट कामना लेकर यहाँ आया हूँ गुरुदेव ! और इसके लिए मैं अपने पूज्य पिता तथा गुरु से सहर्ष आज्ञा भी प्राप्त कर चुका हूँ।'

ब्राह्मणकुमार की वाणी और उसके अलौकिक स्वरूप और सौन्दर्य में इतना आकर्षण भरा था कि महामुनि भरद्वाज तत्क्षण प्रभावित हो उठे। उन्होंने बड़े स्नेह-सिक्त शब्दों में उसका सम्मान करते हुए कहा—

'आयुष्मन् ! सचमुच तुम्हारे आगमन से मुझे प्रसन्नता हुई है। मेरे पास वेदों और वेदांगों से सम्बन्धित जो भी विद्याएँ हैं, उनमें से कोई भी तुम्हारे लिए अदेय नहीं है। तुम्हारे जैसे सत्कुलोत्पन्न, विनीत, भावुक, आचारनिष्ठ तथा श्रद्धावान शिष्य को प्राप्त कर इस संसार में कौन ऐसा गुरु है, जो अपने हृदय और ज्ञान का कपाट अवरुद्ध रखेगा। तुम जो भी विषय चाहो, मुझसे पढ़ सकते हो। मुझे आशा है कि तुम मेरे आश्रम का यश-वर्द्धन करोगे और अपने गंभीर स्वाध्याय, तप और परोपकारपूर्ण प्रवृत्तियों से शीघ्र ही अपने सहाध्यायियों के प्रेम-पात्र बनकर हमारे आश्रम के अंग बन जाओगे।'

महर्षि भरद्वाज की स्नेह भरी वाणी ने युवक को प्रफुल्लित कर दिया। यद्यपि वह दूर देश से आने के कारण बहुत थका-माँदा था, तथापि उसके स्वस्थ-सुन्दर शरीर में स्फूर्ति की बिजली सी दौड़ गई और नेत्रों में प्रसन्नता का पारावार उमड़ आया। उसने कहा—

'गुरुदेव! मैं जानता हूँ कि इस जीवन तक मैंने कभी असत्य भाषण नहीं किया है, पर-निन्दा नहीं की है, किसी के मन को दुःख नहीं पहुँचाया है। मेरे पिता में भी यह सब गुण विद्यमान है। मुझे अपना पाठ शीघ्र ही कण्ठस्थ हो जाता है और मैं अपने गुरु तथा माता-पिता को अपना उपास्य मानता हूँ। मेरा शरीर नीरोग है, मैं प्रतिदिन कम से कम इतना शारीरिक परिश्रम अवश्य करता हूँ, जिससे अपनी जीविका चलती रहे और दूसरे की भी कुछ सहायता कर सकूँ। मेरी आन्तरिक कामना है गुरुदेव! कि आप जो भी विद्याएं जानते हैं, मैं उन सबको प्राप्त करने का अधिकारी बनूं। मैं इसी उच्च आकांक्षा को लेकर आपके चरणों में रहूँगा, मेरी कोई अवज्ञा या धृष्टता आपके देखने या सुनने में नहीं आयेगी।'

भरद्वाज को ब्राह्मण कुमार की इस वाणी ने और भी द्रवित कर दिया। उनका हृदय उमड़ आया। अपने आश्रम-जीवन में बहुत दिनों बाद उन्हें ऐसे संस्कारी शिष्य का परिचय प्राप्त हुआ था। उन्होंने ब्राह्मण कुमार की पीठ पर अपने प्रसादयुक्त दाहिने हाथ को फेरते हुए कहा—

'आयुष्मन्! तुम्हारे जैसे सत्कुलोत्पन्न और संस्कारी शिष्य को पाकर मैं परम प्रसन्न हूँ। तुम बहुत दूर से आए हुए हो, थके-माँदे हो। चलकर कुछ विश्राम और स्नान-भोजन करो। अपने प्रवेश-काल में ही अपने सद्-गुणों और संस्कारों के परिचय से तुमने मुझे मुग्ध कर लिया है तात। ऐसे सुयोग्य छात्र ही मेरे उत्तर-जीवन के दीप-स्तम्भ हैं। मेरा आशीर्वाद है, तुम्हारा भविष्य मंगलमय होगा।'

× × ×

भरद्वाज ने अपने इस प्रिय शिष्य का नाम कठ रखा और उसे रहस्यों और गुत्थियों समेत सभी शास्त्रों और वेदों का सम्यक् अध्ययन कराया। कठ की बुद्धि इतनी निर्मल थी, प्रतिभा इतनी चमत्कारिणी थी और श्रद्धा इतनी भाव भरी थी कि उसने स्वल्पकाल में ही, भरद्वाज की आशाओं को पूरा किया। उसके इर्ष्यालु सहाध्यायी आश्चर्य में डूब जाते, जब उनके महीनों के परिश्रम द्वारा अधिगत होने वाले पाठों को दूसरे ही दिन भली-भाँति सुनाकर कठ भरद्वाज को आनन्द से भर देता। उसकी परोपकार-परायणता, उसकी विनम्रता, उसकी अगाध गुरु-भक्ति और उसकी निर्मल मति तथा स्फुरन्ती प्रतिभा के सौरभ से सम्पूर्ण भरद्वाज आश्रम की यश-श्री बढ़ गई। वह जिधर निकल जाता, उधर आदर और सम्मान की लहरें पहले ही दौड़ जातीं। उसके सहाध्यायी भी उसे गुरु के समान आदर देते थे और स्वयं महामुनि भरद्वाज के हृदय में भी उसके प्रति समानता की भावना उत्पन्न हो गई थी। क्योंकि वह जान गये थे कि अब कठ और उनकी विद्वत्ता में कोई विशेष अन्तर नहीं है। किन्तु स्वयं कठ अब भी उसी प्रकार विनम्र और कर्तव्यपरायण था, जिस प्रकार आश्रम में प्रवेश के आरंभिक दिनों में था।

एक दिन महर्षि भरद्वाज ने कठ को एकान्त में अपने समीप बुलाकर कहा—'आयुष्मन्! अब तुम सभी शास्त्रों और वेदों में पारंगत हो चुके हो, सभी ज्ञेय और अज्ञेय विषयों में तुम्हारी अबाध गति है। मैं तुम्हें अपने से किसी भी दशा में कम नहीं मानता। वास्तव में अपने शिष्य और पुत्र से पराजय की कामना करना प्रत्येक गुरु और पिता का धर्म है। मेरी कामना है कि तुम भविष्य में मुझसे भी बढ़ कर अपने गंभीर अध्ययन का सुफल प्राप्त करो। इस भूमण्डल पर दिनानुदिन बढ़ने वाला तुम्हारा यश मेरे सुख-सन्तोष और दीर्घजीवन का कारण बनेगा तात! अतः मेरी आज्ञा है कि तुम अब अपने गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए जा सकते हो।'

कठ के नेत्र आनन्दाश्रुओं से भर गये। कण्ठ गद्गद हो गया और एक

अबोध बालक की भाँति अपने आराध्य गुरु के चरणों पर गिर कर वह थोड़ी देर तक चुप बना रहा। भरद्वाज ने उसे उठा कर अपने गले से लगा लिया और उसकी पीठ पर और सिर पर दाहिना हाथ फेरते हुए उसके भावी जीवन को सुखमय बनाने के अनेक शुभाशीर्वचन कहे।

कठ बड़ी कठिनाई से केवल इतना ही कह सका—'पूज्य गुरुदेव ! किन्तु मैं आपकी मनचाही दक्षिणा चुकाये बिना इस आश्रम से बाहर नहीं जाऊँगा। संसार भर में अन्यत्र दुर्लभ जिस ज्ञान-गंगा की अपार जलराशि में स्नान कराकर आपने मुझे इतना ऊँचा उठाया है, मेरे जीवन को पवित्र किया है, मैं उसी के अनुरूप कोई दुर्लभ दक्षिणा दिये बिना अपने को सुखी नहीं अनुभव करूँगा गुरुदेव ! जो शिष्य अध्ययन के अनन्तर अपने गुरु को यथेष्ट दक्षिणा नहीं चुकाते, उनकी विद्या फलवती नहीं होती। अतः इतनी बड़ी साधना और कालावधि के पश्चात् प्राप्त अपनी विद्या को मैं अकारथ नहीं करना चाहता भगवन् !'

भरद्वाज कुछ क्षण चुप रहे, फिर मुस्कराते हुए धीर-गम्भीर वाणी में बोले—'वत्स ! मुझे तुमसे ऐसी ही आशा थी। मुझे विश्वास है कि तुम वह दुर्लभ दक्षिणा देकर मुझे कृतार्थ करोगे। यहीं, अपने आश्रम में मेरे दूर के पितृव्य महातपा नाम के एक ऋषि रहते हैं, उनकी कन्या रेवती मेरी बहिन हुई। वह अभी कुमारी है। मेरी इच्छा है कि तुम उसे अपनी अर्धाङ्गिनी बनाओ और विधिपूर्वक स्वीकार करो। इसका स्वरूप यद्यपि सुन्दर नहीं है और बात-चीत में भी कटुभाषिणी है, तथापि मुझे आशा है कि वह तुम्हारे जीवन के लिए परम सुख-शान्तिदायिनी होगी। इसके प्रति तुम कभी अवज्ञा अथवा तिरस्कार की भावना मत रखना। यही मेरी गुरु दक्षिणा होगी वत्स !'

कठ को जैसे काठ मार गया हो। गुरु की भगिनी से विवाह-सम्बन्ध की कल्पना भी वह नहीं कर सकता था, किन्तु उसे अपने गुरु भरद्वाज के कथन में अनास्था भी नहीं रही। वह थोड़ी देर तक इस सम्बन्ध में

कुछ निश्चय करने के पूर्व धर्मशास्त्रीय गुत्थियों को सुलझाने का असफल प्रयत्न करता रहा, किन्तु जब असफल रहा तो विनयपूर्वक बोला—

'भगवन्! शास्त्रों ने शिष्य को पुत्र की संज्ञा दी है और गुरु को पिता के समान पूज्य माना है। तब फिर यह सम्बन्ध कैसे सम्भव है, जब कुमारी रेवती के साथ आपका भगिनी का नाता है।'

भरद्वाज तत्क्षण बोले—'वत्स! छोटी बहिन अपनी पुत्री के समान है। यद्यपि ऋषि महातपा मेरे वंश के हैं, किन्तु बहुत दूरवर्ती और प्रायः समवयस्क होने के कारण भी उनकी पुत्री के संग तुम्हारे विवाह में मैं कोई दूषण नहीं देखता। तुम मेरी आज्ञा का पालन करो, क्योंकि शास्त्र में गुरु की आज्ञा सभी दृष्टियों से अनुल्लंघनीय मानी गई है। तुम रेवती के साथ सुख से रहोगे—इसके लिए मैं कुछ अन्य प्रयत्न भी करूँगा।'

कठ का विकल्प दूर हो गया। उसने अपनी स्वीकृति दे दी। भरद्वाज द्वारा जब इस शुभ-संवाद की सूचना महातपा और प्रजावती को मिली तो वे आनन्द के समुद्र में डूबने-उतराने से लगे। क्योंकि उन्हें रेवती जैसी कन्या के लिए स्वप्न में भी कठ के समान परम सुन्दर, स्वस्थ, सुशील, सद्गुणी और विद्वान् वर मिलने की आशा नहीं थी। उन्होंने अश्रु-विगलित नेत्रों और गद्गद कण्ठ से भरद्वाज के इस अनुग्रह को स्वीकार कर शीघ्र ही विवाह की तैयारी की। भरद्वाज के आश्रम में ही कठ का रेवती से विवाह हुआ और विदाई के समय महामुनि ने अपने उस सुयोग्य और आज्ञाकारी शिष्य को उसकी गृहस्थी बसाने योग्य अनेक वस्तुओं और साधनों के साथ एक ऐसा मंत्र तथा कुछ अन्य उपाय भी बताया, जिसके द्वारा पार्वती समेत शिव की आराधना कर रेवती की असुन्दरता तथा कटुवादिता को शीघ्र ही दूर किया जा सकता था। कठ ने अपने आश्रम में आकर गुरु द्वारा प्राप्त उस अमोघ मंत्र तथा साधनों के द्वारा शिव और पार्वती को सुप्रसन्न किया और उनकी कृपा से रेवती को सर्वाङ्ग सुन्दरी एवं गुणवती पत्नी के रूप में पाकर अपने जीवन को धन्य बनाया।

गुरु, पार्वती और शिव की कृपा से कठ का गृहस्थ-जीवन अति सफल

हुआ। सुन्दरी रेवती उसकी अनन्य आज्ञाकारिणी होने के साथ-साथ थोड़े ही दिनों में परम विदुषी भी हो गई। वह अनेक योग्य पुत्रों की माता बनी और उसके द्वारा कालान्तर में कठ को भी ऐसी प्रसिद्धि मिली कि वह भरद्वाज से भी बढ़कर वेदों और शास्त्रों का अधिकारी माना जाने लगा।

इधर भरद्वाज के आश्रम से कठ के चले जाने के बाद बहुत दिनों तक आश्रम सूना नहीं रहा। भरद्वाज ने महातपा के पुत्र कृश को बुला लिया था, जो कठ के समान ही परम मेधावी, अतीत सुन्दर, विनीत तथा श्रद्धावान् था। उसने भी थोड़े ही दिनों में भरद्वाज की सारी विद्याएँ प्राप्त कर लीं और गुरु की कृपा से उसे भी अनन्य सुन्दरी एवं योग्य पत्नी मिली।

इस प्रकार कन्या के विवाह की दुश्चिन्ता में ग्रस्त महातपा और प्रजावती का दुःख सदा के लिए दूर कर महर्षि भरद्वाज ने जो उत्तम आदर्श उपस्थित किया, उसकी पुराणों में आदर के साथ चर्चा की गई है।

———

मृत्यु पर विजय

प्राचीन काल में मद्र देश में परम धार्मिक एवं ज्ञानी अश्वपति नाम के एक राजा थे। समस्त सांसारिक सुख-साधनों से युक्त होने पर भी राजा को कोई सन्तान नहीं थी, जिसके कारण वह मन में बहुत दुःखी रहते थे। उनकी रानी भी सदा इसी शोक में घुलती रहती थीं। राजा ने विद्वान् ब्राह्मणों की प्रेरणा से अपनी पत्नी के साथ सरस्वती देवी की आराधना की, जिससे सुप्रसन्न होकर सरस्वती ने दम्पती को प्रत्यक्ष दर्शन देते हुए वरदान दिया और कहा—'राजन्! तुम्हारे भाग्य में पुत्र तो नहीं है, किन्तु दोनों कुलों की कीर्ति-पताका को बढ़ाने वाली एक कन्या तुम्हें अवश्य प्राप्त होगी, जिसका नाम तुम मेरे नाम पर रखना।'

भगवती सरस्वती के वरदान के अनुसार रानी के गर्भ से यथासमय उस कन्या का जन्म हुआ, जिसके लिए राजा बहुत दिनों से लालायित था। राजा की वह कन्या स्वरूप में प्रत्यक्ष सरस्वती देवी के समान थी। उसके अंग-प्रत्यंग की छवि में सरस्वती के अंगों की मनोहर आभा थी और उसका मुखमण्डल तो मानों चन्द्रमा का एक लघु बिम्ब था। वरदान के अनुसार राजा ने कन्या का नाम सावित्री रखा। देखते ही देखते सावित्री चन्द्रकला के समान बढ़ने लगी और थोड़े ही दिनों में वह वयस्क होकर विवाह योग्य बन गई।

राजा अश्वपति ने सोचा—यदि मेरी बेटी मानुषी होती तो इसके विवाह की मैं चिन्ता करता; किन्तु इसकी दिव्य आभा एवं अलौकिक लक्षणों के अनुरूप वर मैं भला कहाँ ढूंढ़ सकता हूँ, अतः इसे स्वयं अपने योग्य वर ढूंढ़ने की अनुमति देना उचित होगा।

एक दिन राजा ने सावित्री से कहा—'बेटी! अब तुम विवाह के योग्य हो गयी हो। तुम्हारे योग्य वर ढूंढ़ने का कार्य बड़ा कठिन है, मैंने

बहुत दृष्टि दौड़ाई, किन्तु कोई योग्य वर नहीं मिला अतः मेरी इच्छा है कि तुम अपने योग्य वर स्वयं ढूँढ़ लो। मैं तुम्हारे साथ अपने वृद्ध सचिव को किये देता हूँ, वह तुम्हारे लिए मार्ग की समस्त सुविधाएँ करेंगे।'

सावित्री पिता की आज्ञा प्राप्त कर वर खोजने के लिए चली गई। इसी बीच में एक दिन देवर्षि नारद त्रैलोक्य का भ्रमण करते हुए राजा अश्वपति की राजधानी में पहुँचे। वह राजा से बातचीत कर ही रहे थे कि सावित्री अपनी यात्रा से वापस आ गयी। अपनी यात्रा से सावित्री को सकुशल वापस आया देखकर राजा प्रसन्नता से फूल उठे। सावित्री को देखकर नारद जी ने पूछा—'राजन्! सावित्री तो अब विवाह योग्य हो गई है, उसके विवाह के लिए आपने कोई वर अभी तक खोजा या नहीं?'

राजा ने कहा—'देवर्षि! इसी कार्य के लिए तो मैंने सावित्री को स्वयं अपने मंत्री के साथ यात्रा पर भेजा था। वह अभी-अभी आपके सामने ही तो लौटकर आ रही है। आप कृपाकर उसी से पूछिए कि उसने अपने योग्य कोई वर ढूँढ़ लिया है या नहीं?'

नारद जी ने सावित्री से पूछा—'बेटी! क्या तुमने अपने लिए किसी वर को चुना?'

सावित्री ने लज्जापूर्वक हाथ जोड़कर बड़ी नम्रता से कहा—'देवर्षि! हाँ, मैंने अपने लिए उन राजा द्युमत्सेन के पुत्र सत्यवान् को वरण किया है, जो रुक्मी द्वारा राज्य-हरण कर लेने के शोक से अन्धे होकर अपनी रानी के साथ आजकल जंगल में निवास करते हैं।'

नारद जी मुस्कराये। थोड़ी देर तक चुप रहकर बोले—'राजन्! सचमुच आपकी कन्या ने अपने योग्य ही वर चुना है। ऐसे वर को खोज निकालना आपके लिए बड़ा कठिन कार्य था। सत्यवान वास्तव में परम गुणी तथा धर्मात्मा है। वह सदा सत्य बोलने वाला एवं परोपकार-परायण है। उसके माता-पिता भी उसी की तरह सत्यवादी तथा परोपकारी हैं। सत्यवान वास्तव में सत्यवान ही है। उसका रूप एवं गुण भी सावित्री के समान समूचे संसार में अनुपम है। वैसा योग्य वर सावित्री जैसी कन्या

के लिए ही रचा गया है। किन्तु सत्यवान के सम्बन्ध में जो सबसे बड़ी चिंता का विषय है, वह ऐसा है कि उसकी उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। उसे देखते हुए तो कोई भी माता-पिता अपनी कन्या का विवाह उसके साथ नहीं करेगा।'

देवर्षि नारद की यह अमंगल वाणी सुनकर राजा अश्वपति बहुत घबराये। हाथ जोड़कर घबराहट के स्वर में बोले—'देवर्षि ! ऐसी क्या बात है ? कृपया मुझे शीघ्र बताइये क्योंकि आपकी बात सुनकर मेरा चित्त बहुत घबरा रहा है !'

नारद कुछ क्षण चुप रहे फिर बोले—'राजन् ! बात तो सचमुच घबराने वाली ही है। सावित्री जैसी कन्या के लिए सत्यवान जैसा वर चिन्ता का विषय है ! सत्यवान अल्पायु है। मैंने उसके नक्षत्रों का अध्ययन किया था, निश्चय ही एक वर्ष के भीतर उसका देहावसान हो जायगा।'

'देहावसान', राजा अश्वपति ने घबराकर कहा। 'एक वर्ष के भीतर देहावसान ! फिर मेरी पुत्री सावित्री विधवा हो जायगी। नहीं, देवर्षि ! ऐसा अनर्थ नहीं होने पायेगा। मैं सावित्री का विवाह सत्यवान के साथ नहीं होने दूंगा।'

सावित्री अविचलित भाव से, निर्निमेष दृष्टि से देवर्षि नारद की ओर देखती रही और उसकी माता की आँखों से आँसू गिरने लगे। फिर तो घबराये हुए राजा अश्वपति ने सावित्री से कहा—'बेटी ! देवर्षि की वाणी कभी अन्यथा नहीं हो सकती। तुम्हें कोई दूसरा वर ढूंढ़ना चाहिए। क्षीणायु वर के साथ मैं तुम्हारा विवाह कदापि नहीं होने दूंगा।'

सावित्री पिता की इस घबराहट तथा नारद की भविष्य वाणी से तनिक भी विचलित नहीं हुई थी। वह बोली—'पूज्य तात ! मैं सत्यवान को सर्वात्मना अपना पति स्वीकार कर चुकी हूँ। अब शारीरिक सम्बन्ध के लिए तो क्या मन से भी मैं किसी अन्य पति की कामना नहीं करूंगी। एक बार भली भांति विचार करके जिसे मैं अपना पति बनाने का निश्चय कर चुकी हूँ, उसे छोड़कर किसी अन्य पति का वरण मैं नहीं कर सकती

पिता जी ! सज्जन लोग अपने निश्चय से कभी डिगते नहीं, भले ही करोड़ों बिपत्तियाँ उन्हें मजबूर क्यों न कर दें । मैंने तो यह निश्चय कर लिया है कि सत्यवान ही मेरे पति हैं, उन्हें छोड़कर स्वयं साक्षात् इन्द्र को भी मैं अब पति-रूप में स्वीकार नहीं कर सकूँगी तात ।'

राजा अश्वपति सावित्री का यह अडिग निश्चय सुनकर अत्यन्त शोक-मग्न हो गए । वे इतने विचलित हुए कि देवर्षि नारद के सम्मुख ही रुदन करने लगे । उधर सावित्री की माता का क्या पूछना था ? समूचे रनिवास में शोक का पारावार उमड़ पड़ा था । जहाँ कुछ क्षण पहले भावी विवाह के मंगलायोजन की तैयारी में उत्साह और उल्लास का वातावरण था वहीं शोक और दुश्चिन्ता के बादल छा गये थे । किन्तु सावित्री का अटल निश्चय देखकर किसी में यह दुःसाहस नहीं हुआ कि इस सम्बन्ध में फिर से कुछ आग्रह किया जाय । सभी लोग चुपचाप अपने शोक का भार आँसुओं द्वारा बहाते हुए विह्वल थे । कुछ देर तक यही स्थिति बनी रही । तदनन्तर नारद जी ने राजा अश्वपति को धैर्य बँधाते हुए कहा—'राजन् ! विधि का विधान् तो कोई रोक नहीं सकता किन्तु सावित्री भाग्यवती कन्या है, उसका आग्रह विधि के विधान को भी अन्यथा कर सकता है । अतः अब आप कोई दूसरा उपाय न सोचें और सत्यवान के साथ ही उसका विवाह कर दें ।'

नारद जी की सम्मति के अनुसार राजा अश्वपति ने वन में निवास करने वाले राज्यभ्रष्ट राजा द्युमत्सेन के पास अपनी कन्या सावित्री का उनके पुत्र सत्यवान के साथ विवाह करने का जब सन्देश भिजवाया तो वे आश्चर्य में पड़ गये क्योंकि वे यह आशा ही नहीं कर सकते थे कि राजा अश्वपति की कन्या का विवाह उनके बेटे के साथ सम्भव है । किन्तु राजा अश्वपति के दूतों के अनुरोध को देख-सुनकर उन्होंने सुप्रसन्न मन से उसे स्वीकार कर लिया । फिर तो वन में ही सत्यवान के साथ सावित्री का विवाह करने का निश्चय हुआ । राजा अश्वपति स्वयमेव विवाह की सब सामग्रियों के साथ सदलबल बन में पहुँच गये थे । विवाह कर देने

के बाद सावित्री की इच्छा और अनुरोध से उन्होंने उसे अपने श्वसुर और पति के साथ रहने के लिए छोड़ दिया और साश्रुनयन दम्पती सबके साथ अपनी राजधानी को वापस लौट आये।

वन में अपने श्वसुर के साथ राजकुमारी सावित्री सुखपूर्वक रहने लगी। वन की विपदाओं और कठिनाइयों का वह उत्साह के साथ सामना करने लगी और इसमें भी उसे आनन्द का अनुभव होता रहा किन्तु देवर्षि नारद की भविष्य वाणी का स्मरण कर वह मन ही मन चिन्तातुर भी रहने लगी। ज्यों-ज्यों एक-एक दिन बीतता जाता था वह अवसन्न-सी होती जाती थी। नारद के कथनानुसार जब सत्यवान की मृत्यु का समय आने में केवल तीन दिन शेष रह गया तो सावित्री ने अन्न-जल लेना बन्द कर दिया और बराबर सास-ससुर तथा पति की सेवा में रहते हुए मन ही मन भगवान से प्रार्थना करती रही। आखिरकार वह अत्यन्त दुःख-दायी तीसरा दिन भी आ पहुँचा, जो सत्यवान की मृत्यु का दिन था। उस दिन प्रातःकाल ही उठकर सावित्री ने अपने सास-ससुर का पूजन किया और ईश्वर की विधिवत् आराधना की।

प्रतिदिन अपनी गृहस्थी का व्यय-भार चलाने के लिए सत्यवान वन से फल-फूल तोड़ कर और सूखी लकड़ियाँ काट कर लाते थे और उन्हीं के विनिमय से परिवार के आहार की व्यवस्था करते थे। उस तीसरे दिन भी जब वह कुल्हाड़ी तथा रस्सी लेकर वन की ओर जाने के लिए तैयार हुए तो सावित्री आ पहुँची और उसने विनय भरी वाणी में हाथ जोड़कर निवेदन करते हुए कहा—'प्राणनाथ! आपकी सेवा में रहते हुए मुझे लगभग एक वर्ष हो गया किन्तु मैं वन के उस प्रदेश को नहीं देख सकी, जहाँ आप प्रतिदिन जाते हैं। मैं आपके उस प्यारे प्रदेश को देखने के लिए आज आप के साथ ही चलूँगी। कृपा कर मेरी प्रार्थना अस्वीकार न करें देव!'

सत्यवान ने मुस्कराते हुए कहा—'प्रिये! यदि तुम भी मेरे साथ चलोगी तो पिता जी और माता जी के साथ कौन रहेगा? तुम जानती

हो, वे सैकड़ों दास-दासियों से युक्त जीवन बिताने के अभ्यासी रहे हैं। अतः इस वन्य प्रदेश में यदि उन्हें किसी वस्तु की आवश्यकता पड़ी तो उसकी पूर्ति कौन करेगा ?'

सावित्री बोली—'भगवन् ! आज के लिए मैं अपनी अनुपस्थिति के हेतु उनसे क्षमा माँग लूँगी, किन्तु आपके संग अवश्य चलूँगी।'

सत्यवान थोड़ी देर चुप रहे। उन्होंने देखा, सावित्री की मुखाकृति आन्तरिक उद्वेग से रक्तवर्ण की हो रही है, वाणी में सत्याग्रह का भार है और उसे कथमपि विचलित नहीं किया जा सकता। तब निरुपाय होकर वह बोले—'प्रिये ! यदि ऐसा ही तुम्हारा निश्चय है तो जाओ अपने सास-ससुर से आज्ञा प्राप्त करके चलो।'

साबित्री ने अपने सास-ससुर से आज्ञा प्राप्त कर ली और पति के पीछे-पीछे बन का मार्ग ग्रहण किया। वह चारों ओर अपने चंचल और भयभीत नेत्रों से सत्यवान की मृत्यु के आगमन को देखती जाती थी। अन्ततः प्रतिदिन की अपनी सुपरिचित उस वन्य भूमि में पहुँच कर सत्यवान ने सामने के एक वृक्ष से कुछ पके हुए फल तोड़े, अन्य वृक्षों तथा लताओं से कुछ खिले हुए पुष्पों का संचयन किया, सुगन्धित मंजरियाँ तोड़ीं। और उन सबको सावित्री के समीप रख कर वह एक वृक्ष की सूखी डाली को काटने के लिए हाथ में कुल्हाड़ी लेकर उसके ऊपर चढ़ गये।

इधर चिन्ताकुल सावित्री के निर्निमेष नेत्र सत्यवान के अंग-प्रत्यंग पर लगे थे। वह डाली को आधा ही काट चुके होंगे कि अकस्मात् उनके सिर में प्राणघाती वेदना आरम्भ हो गयी, जिससे कुल्हाड़ी अपने आप ही नीचे गिर पड़ी और वह किसी प्रकार अपने को सम्हाल कर नीचे उतर कर सावित्री की गोद में सिर रख कर भूमि पर ही लेट गये। सावित्री को समझने में देर नहीं लगी कि देवर्षि नारद के कथनानुसार उसके प्यारे पति की मृत्यु का आगमन हो रहा है। उसकी चंचल तरल आँखें दिगन्तों पर लग गईं और रह-रह कर पीड़ा के

असह्य बोझ से विह्वल अपने प्यारे पति की मुखमुद्रा को वह निहारने लगी। उसका हृदय धड़कने लगा और उस निर्जन भयानक वन में आज अपनी निस्सहायता को देखकर उसे अपनी हीनावस्था पर रुलाई आने लगी। किन्तु यह क्या ? उसने देखा, दक्षिण की दिशा से अनेक विकराल आकृति वाले दूतों के साथ यमराज स्वयं उसकी ओर आगे बढ़ते हुए चले आ रहे हैं।

किन्तु यमराज को दूतों समेत आता देख कर सावित्री का सारा भय जाने कहाँ दूर हो गया। उसके अन्तरतम में व्याप्त निबिड़ निराशा का अंधकार मानों दूर हो गया। आशा की एक क्षीण लहर, प्रकाश की एक किरण के समान उनके मानस में संचरित होने लगी। उसे विश्वास होने लगा कि उसके हाथों से उसके प्यारे पति को छीन लेने की शक्ति सामने खड़े हुए यमराज और उनके दूतों में नहीं है।

यमराज ने आते ही दूतों को संकेत करके कहा—'लो, सत्यवान यही है, शीघ्र ही इसके प्राणों का हरण कर लो।'

किन्तु अनुपम तेजस्विता, करुणा और ममता की जीवन्त प्रतिमा सावित्री के मनोहर मुखमण्डल की उद्दीप्त आभा से यमदूतों को यह साहस नहीं हुआ कि वे सत्यवान के शरीर की ओर अपना पग भी बढ़ा सकें, वे निर्निमेष नेत्रों से कभी सावित्री की ओर, कभी सत्यवान की ओर और कभी अपनी विवशता पर कुण्ठित होकर यमराज की ओर निहारने लगे। उधर यमराज को इस सारी स्थिति का पूरा ज्ञान था।

वे मुस्कराते हुए सावित्री से बोले—'सावित्री ! ईश्वर के कठोर नियमों को उल्लंघन करने की शक्ति मुझमें नहीं है, मैं तो उसका पालन करने के लिए विवश हूँ। मैं तुम्हारी मनःस्थिति समझ रहा हूँ, किन्तु क्या करूँ ? मेरा नाम यमराज इसीलिए है कि मैं ईश्वरीय नियमों का कठोरता से पालन करूँ।'

सावित्री चुपचाप यमराज की ओर निहारती रही किन्तु यमराज में यह साहस नहीं हुआ कि वे अधिक देर तक सावित्री की ओर निहार

सकते। उन्होंने अपनी आँखें नीची कर लीं और अपने दाहिने हाथ के पाश को कन्धों पर रखकर सत्यवान के शरीर से उसके प्राणों को खींच लिया। और उसे अंगुष्ठमात्र प्रतिमा के रूप में पकड़ कर वह जिधर से आए थे उसी ओर चल पड़े।

यमराज के जाते ही सत्यवान का निर्जीव शरीर सावित्री की गोद में ढुलक पड़ा। उसने देखा—यमराज अपने दूतों के साथ दक्षिण दिशा के आकाश में दूर चले जा रहे हैं। फिर क्या था, पति के निर्जीव शरीर को वहीं छोड़ कर अपने तपोबल के प्रभाव से सावित्री भी यमराज के पीछे-पीछे आकाश मार्ग पर बढ़ने लगी। बहुत दूर जाकर जब यमराज ने देखा कि सावित्री बिना किसी कठिनाई के उनके पीछे-पीछे चली आ रही है तब वह रुक गये और बोले—'पतिव्रते! जहाँ तक मनुष्य अपने प्रिय जन का साथ दे सकता है तुम वहाँ से भी बहुत आगे चली आयी हो। अब और आगे जाना मनुष्य के कर्त्तव्य से परे है। अतः मेरी सम्मति है कि अब तुम और आगे मत बढ़ो और वापस चली जाओ।'

सावित्री अविचलित भाव से बोली—'भगवन्! प्रतिव्रता का धर्म है कि वह अपने पूज्य पति का साथ न छोड़े। अब तो जहाँ भी मेरे पूज्य पति को आप ले जायँगे वहाँ तक मैं भी उनके साथ जाऊँगी। मैं अपने पातिव्रत-धर्म से विचलित नहीं हो सकती देव! रही बात मनुष्य के कर्त्तव्य से आगे जाने की, उस सम्बन्ध में तो मैं केवल यही कहूँगी कि पातिव्रत-धर्म के प्रभाव तथा आपकी कृपा से मेरी गति रोकने की सामर्थ्य किसी में नहीं है। मैं आपके पीछे-पीछे स्वर्ग तथा अपवर्ग तक अपने प्राण-प्रिय पतिदेव का अनुगमन कर सकती हूँ।'

सावित्री की निश्चयभरी वाणी सुनकर यमराज मुस्कराने लगे और हतप्रभ-से यमदूत एक दूसरे का मुँह देखने लगे। कुछ क्षण चुप रहकर यमराज फिर बोले—'पतिपरायणे! इस मर्त्यलोक में तुम्हारी इस पति-भक्ति से मैं बहुत प्रभावित हुआ हूँ। तुम्हारे समान पतिव्रता तथा तेज-स्विनी कोई दूसरी नारी मेरे देखने में नहीं आयी। मैं तुम पर परम

प्रसन्न हूँ। मेरी आज्ञा है कि अब तुम यहीं ठहर जाओ और अपने पति के प्राणों को छोड़कर जो भी एक वरदान चाहो मुझसे माँग लो और भूलोक को वापस चली जाओ। तुम जो कुछ भी माँगोगी भले ही वह दुर्लभ हो, मैं तुम्हें अवश्य दूँगा।'

सावित्री बोली—'देव ! मेरे सास-ससुर कभी राजा थे, आज वे अकिंचन बनकर बन-बन भटक रहे हैं और दोनों आँखों के अन्धे हो गये हैं। मैं चाहती हूँ कि आपकी कृपा से उन्हें पूर्ववत् सुख और स्वास्थ्य मिले।'

यमराज ने कहा—'तथास्तु ! किन्तु अब मैं चाहूँगा कि इस दुर्गम मार्ग की भीषण विपदाओं से मुक्ति पाकर तुम अपने लोक को वापस चली जाओ। तुम्हारे कष्टों को देखकर मुझे करुणा होती है।'

सावित्री बोली—'देव ! पतिव्रता नारी को अपने पूज्य पति का अनुगमन करने में कोई कष्ट कभी नहीं होता। यह तो मेरा कर्त्तव्य ही है। दूसरे, आप जैसे परम तेजस्वी एवं धर्म के अधिष्ठातृ-देवता के सान्निध्य का लोभ भी मुझे है। ऐसा सुयोग पृथ्वी पर कहाँ मिल सकता है ? भला मैं यह अपूर्व अवसर छोड़कर धरती पर भटकने के लिए क्यों वापस जाऊँगी ?'

सावित्री की इस मर्म एवं श्रद्धाभरी वाणी का यमराज पर गहरा प्रभाव पड़ा। वे और भी प्रसन्न होकर बोले—'सावित्री ! तुम्हारी इस वाणी ने मुझे अत्यधिक प्रसन्न किया है, मैं तुम्हें एक अन्य वरदान भी देना चाहता हूँ। अतः अपने पति के प्राणों को छोड़कर दूसरा कोई भी वरदान तुम मुझसे माँग सकती हो।'

सावित्री विनयभरी वाणी में बोली—'मेरे पूज्य श्वसुर अपने राज्य से च्युत हो गये हैं, मैं चाहती हूँ कि उन्हें उनका राज्य वापस मिल जाय और वे अपने जीवन भर धर्मपूर्वक प्रजा के पालन में लगे रहें।'

यमराज ने दाहिना हाथ आकाश की ओर उठाकर गंभीर वाणी में कहा—'सावित्री ! तुम्हारी यह अभिलाषा भी पूरी हुई, किन्तु अब मैं

चाहूँगा कि तुम मेरे प्रस्थान में बाधा न डाल कर भूलोक को वापस चली जाओ और अपने सास-ससुर की सेवा करो।'

सावित्री के निश्छल दीर्घायत नेत्रों से आंसू गिरने लगे। वह धीर, गंभीर स्वर में बोली—'भगवन्! प्राणिमात्र के साथ अद्रोह की भावना रखना सत्पुरुषों का कर्तव्य है। वे अपने मन, वचन तथा कर्म से सब को सुख एवं कल्याण पहुँचाते हैं। मैं आपको इस त्रैलोक्य में सत्पुरुषों का अग्रणी ही नहीं धर्म का नियन्ता भो मानती हूँ। फिर आप क्यों अपनी मर्यादा को भूल कर मुझे पृथ्वी-लोक में लौट जाने की बारम्बार आज्ञा दे रहे हैं। मैं बहुत हैरान हूँ, भगवन्! मेरी समझ में यह बात नहीं आ रही है कि एक ओर तो आप मेरे ऊपर परम प्रसन्न होने की बात करते हैं और दूसरी ओर मुझे ऐसे कार्य की प्रेरणा करते हैं, जिससे मेरा भावी जीवन नरक बन जायगा। आप ही सोचें, पृथ्वी पर एक पति-विहीना नारी का जीवन नरक नहीं है तो क्या है? और क्या आप मुझ पर प्रसन्न होकर भी उस नरक में मुझे जाने की आज्ञा देते हैं?'

सावित्री की इस करुणा तथा मर्म भरी वाणी ने यमराज के नीरस हृदय में अपना स्थान बना लिया। वे और भी प्रसन्न हो उठे और उन्होंने सावित्री को कोई तीसरा वरदान देने की इच्छा प्रकट की। सावित्री ने अपने पूज्य पिता एवं माता के कष्टों का स्मरण किया, जो पुत्र-विहीन थे और प्राणोपम सावित्री के अपने पति के साथ चले आने पर, जीवन के दिन बड़े कष्ट से बिता रहे थे। उसने कहा—'भगवन्! मैं तीसरे वरदान द्वारा आपसे याचना करती हूँ कि मेरे पिता को सौ आज्ञाकारी पुत्र प्राप्त हों।'

यमराज ने 'तथास्तु' कहकर सावित्री को पुनः पृथ्वी लोक पर वापस जाने की प्रेरणा की। किन्तु सावित्री क्यों लौटती? उसने कहा—'देव! मैं अपने पूज्य पति के चरणों की शीतल छाया छोड़कर भूलोक में वैधव्य का जलता हुआ जीवन सहन नहीं कर सकूंगी। मेरा घर वही है, जहाँ मेरे पतिदेव रहेंगे। आप सन्तों के शिरोमणि हैं, ज्ञानियों को भी ज्ञान देने

वाले हैं, मैं अज्ञ अबला भला आपको क्या समझा सकती हूँ ? सन्त तथा ज्ञानी लोग न कभी सुखी होते हैं, न दुःखी। वे तो अपने सत्य एवं ज्ञान के बल से सूर्य को भी वश्य बना लेते हैं, समूची पृथ्वी को जीत लेते हैं और शरीर को क्षणभंगुर समझकर प्राणियों पर दया भाव रखते हैं, फिर आप मुझ असहाय अबला पर दया भाव रखकर भी ऐसा क्रूरतापूर्ण आदेश क्यों देते हैं ?'

सावित्री की निश्चय भरी वाणी सुनकर यमराज का विकल्प दूर हो गया। वे मन ही मन समझ गए कि इस तेजस्विनी नारी से पार पाना सरल कार्य नहीं है। वे द्रवित होकर बोले—'सावित्री ! तुम्हारी श्रद्धा, भक्ति एवं विश्वास से युक्त वाणी मेरे हृदय को अपार आनन्द पहुँचाने वाली है। धीरे-धीरे तुमने मेरे हृदय को भी जीत लिया है। अतः मैं तुम्हें एक और वरदान देना चाहता हूँ। सत्यवान के प्राणों को छोड़कर तू भूमण्डल के लिए दुर्लभ से दुर्लभ कोई भी एक वरदान मुझसे माँग सकती हो।'

सावित्री आश्वस्त हुई। वह समझ गयी कि अब यमराज उसे छोड़कर भाग नहीं सकते। वह धीर-गंभीर वाणी में विनय के साथ बोली—'भगवन् ! मुझे अपने पूज्य पति के बिना न तो किसी सुख की कामना है और न आपके स्वर्ग अथवा अपवर्ग लोक की। यही नहीं, पति के बिना मैं अपने इस शरीर एवं जीवन को भी नहीं रखना चाहती। किन्तु फिर भी मैं आपकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करूँगी। यदि आप मुझ पर कृपा करके एक और वरदान देना ही चाहते हैं तो मुझे यह वरदान दें कि मेरे प्राणोपम पति सत्यवान द्वारा मुझे भी सौ पुत्रों की प्राप्ति हो।'

सावित्री की यह याचना अभी समाप्त भी नहीं हुई थी कि आकाश मण्डल से पुष्पों की वृष्टि होने लगी और देवता लोग प्रसन्न होकर जय-जयकार के साथ नाचने-गाने लगे। यमराज ने देखा ऊपर स्वर्ग के अधिकारी देवगण सावित्री का गुणानुवाद कर रहे हैं और नीचे भूमण्डल पर मंगल गीत-वाद्य हो रहे हैं। इन सबकी ओर से दृष्टि हटाकर यमराज ने

सावित्री के तेजस्वी मुखमण्डल पर अपनी दृष्टि डालते हुए कहा—'बेटी सावित्री ! तुम्हारी कामना पूरा हो। सत्यवान से तुम्हें अवश्य ही सौ पुत्र उत्पन्न होंगे।'

उक्त वरदान देने के साथ ही यमराज ने सत्यवान के लघु शरीर को मध्य नभोमार्ग में ही पाश-मुक्त कर दिया और अपने दूतों समेत वह ज्यों ही वहाँ से अन्तंधान हुए त्यों ही पृथ्वी पर सत्यवान का निर्जीव शरीर चेतन होकर उठ बैठा। अलौकिक तेज से युक्त सावित्री को आकाश मार्ग से नीचे की ओर वापस लौटते देखकर सत्यवान आश्चर्यचकित होकर उसकी ओर दौड़ने लगा। सावित्री ने सत्यवान को हृदय से लगाकर अपने नेत्रजलों से उसका अभिषेचन किया और यमराज के साथ अपनी वार्ता का संक्षेप सुना दिया। दम्पतो के इस पुर्नमिलन को देखकर उस निर्जन वन में भी आनन्द की लहरें फैल गयीं। वन्यपशु परस्पर का वैरभाव भूलकर उछलने-कूदने लगे। पक्षी कलरव करने लगे। मंद-सुगन्ध-शीतल पवन बहने लगा। वृक्षों से फल-पुष्प अपने आप चूने लगे और नदियों तथा सरोवरों का जल अत्यन्त निर्मल हो गया।

उधर सत्यवान के वनवासी माता-पिता की आँखें जब अपने आप ज्योतित हो उठीं और उनमें पूर्ववत् यौवन तथा उल्लास की तरंगें प्रवाहित होने लगीं तो वे अपने पुत्र तथा पुत्रवधू को समीप न देखकर वियोग से विह्वल होने लगे। इसी बीच में सावित्री और सत्यवान ने जाकर उनके चरणों का स्पर्श किया। प्रमुदित सत्यवान ने यमराज के साथ सावित्री के वार्तालाप का संक्षेप जब उनको सुनाया तो वे अपार हर्ष के समुद्र में निमज्जित हो उठे।

देवताओं तथा ऋषियों-मुनियों के द्वारा थोड़े ही दिनों में तीनों लोकों में सावित्री के उज्जवल चरित्र की चन्द्रिका छिटक गयी। नीति-परायण एवं प्रजावत्सल राजा द्युमत्सेन की प्रजा अपने प्राणप्रिय युवराज सत्यवान एवं राजा द्युमत्सेन के स्वागत के लिए पागल हो उठी। थोड़े ही दिनों में

उसने द्युमत्सेन को बन में से ढूंढ़ निकाला और सादर सोल्लास ले जाकर राजपद पर उनका पुनः अभिषेचन किया।

उधर सावित्री के पिता राजा अश्वपति को यमराज के वरदान से सौ पुत्रों की प्राप्ति हुई और यथासमय सत्यवान से सावित्री को भी सौ पुत्र उत्पन्न हुए। अपने पूज्य माता-पिता के शरीरावसान के बाद वर्षों तक सत्यवान ने सावित्री के साथ इस धरती का सम्पूर्ण सुख-भोग किया। उनके राज्य में प्रजा को स्वर्ग के समान सब सुख विद्यमान था।

महर्षि गौतम और चिरकारी

प्राचीन काल में गौतम नामक एक महर्षि थे। उनका गृहस्थ जीवन संसार के सभी प्रकार के सुख-साधनों से भरा-पुरा था। उनके मित्रों और अन्य ऋषियों-मुनियों के लिए ही नहीं देवताओं के लिए भी वह स्पर्द्धा का विषय था। महर्षि गौतम की स्त्री अहल्या संसार की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी थीं और जैसा अलौकिक उनका रूप था, वैसी ही वह सद्गुणी, आज्ञा-कारिणी और हँसमुख भी थीं। अनेक सुन्दर स्वस्थ और प्रतिभाशाली पुत्रों की माता होने के कारण भी उनका ऋषियों-मुनियों के समाज में बड़ा सम्मान था। महर्षि गौतम को वह देवता की भाँति आराध्य मानती थीं और दिन-रात उनकी सेवा-सुश्रूषा में लगी रह कर अपना तन-मन भुला देती थीं। महर्षि गौतम को भी अहल्या प्राणों के समान प्रिय थीं और वह अहल्या की प्रसन्नता और सन्तुष्टि के लिए बराबर प्रयत्न करते रहते थे।

महर्षि गौतम की गृहस्थी इसी प्रकार उल्लास और प्रसन्नता के साथ अनेक वर्षों तक चलती रही। उसमें कोई विघ्न-बाधा कभी नहीं पड़ी और न कभी कोई कठोर बात बोलने का ही अवसर आया। समूचा परिवार मानों सुख-सौभाग्य के समुद्र में हिलोरें लेता रहा। जप-तप, पूजा-पाठ, यज्ञ-हवन के मुनिजनोचित सत्कर्मों के साथ हास-परिहास, राग-रंग और प्रेम-वात्सल्य के मोहक प्रसंगों में दिन-रात भूले हुए स्वल्प-सन्तुष्ट गौतम और अहल्या को मानों इन्द्र के साम्राज्य से भी बढ़ कर कोई साम्राज्य प्राप्त हो गया था, जिससे खेद-विषाद, परनिन्दा-उपहास, चिन्ता-विवाद और कलह-ग्लानि के कलुषित प्रसंगों को उन्होंने अपने आश्रम से सदा के लिए बिदा कर दिया था।

महर्षि गौतम के अनेक पुत्र थे, जिनमें से एक का नाम चिर-कारी था। चिरकारी बाल्यकाल से ही बड़ा शान्त, गम्भीर और विरक्त

स्वभाव का बालक था। सोता तो दिन-रात सोता ही रह जाता और जागता तो समूचे परिवार के सो जाने पर भी उसे रात-रात भर नींद नहीं आती। आरम्भ में गौतम और अहल्या ने उसे उचित मार्ग पर लाने का बड़ा यत्न किया किन्तु चिरकारी की प्रकृति ऐसी थी कि उसमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। जिस किसी कार्य को वह आरम्भ करता, बड़ी देर तक करता रहता। माता-पिता तथा बन्धु-बान्धवों की संगति या उनके कहने-सुनने और उलाहना देने का भी उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। अपने ढंग से बहुत धीरे-धीरे वह अपना नित्य कर्म सम्पन्न करता था। पढ़ने-लिखने में भी उसकी विशेष रुचि नहीं थी। एक पाठ जो उसे पढ़ाया जाता वह कई दिनों तक उसी को कण्ठस्थ करने में लगा रहता और जब तक वह पाठ भली-भाँति अधिगत न हो जाता तब तक दूसरा पाठ आरम्भ न करता। इसका परिणाम यह हुआ कि जहाँ उसके अनेक सहाध्यायी उससे बहुत आगे बढ़ गये वहाँ वह बहुत वर्षों तक एक ही शास्त्र के अध्ययन में रत रहा।

चिरकारी धीरे-धीरे किशोरावस्था पार कर गया, किन्तु उसके स्वभाव की यह विशेषता दूर नहीं हो सकी। युवक होने पर भी वह प्रायः ज्यों का त्यों बना रहा। महर्षि गौतम और अहल्या को आरम्भ में तो चिरकारी के इस स्वभाव के सम्बन्ध में थोड़ी-बहुत चिन्ता अवश्य होती थी किन्तु जब अनेक प्रयत्नों के बाद भी उन्होंने उसमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं देखा तो उसकी ओर से वे प्रायः निश्चिन्त हो गये। अपनी गंभीरता, विरक्ति तथा देर तक सोते रहने और देर तक जागते रहने के कारण वह महर्षि के आश्रम में ही नहीं आस-पास के लोगों के बीच भी चिरकारी नाम से प्रसिद्ध हो गया और लोग उसे एक अत्यन्त आलसी तथा दीर्घसूत्री नवयुवक के रूप में समझने लगे।

पिता के आश्रम में खाने-पीने और अध्ययन-स्वाध्याय की सब प्रकार की सुविधाएँ थीं। अतः चिरकारी को अन्य मुनिकुमारों की भाँति किसी अन्य आचार्य के आश्रम में विद्याध्ययन के लिए कहीं जाना नहीं पड़ा।

फलस्वरूप युवावस्था तक उसे संसार की कठिनाइयों और समस्याओं का कभी सामना नहीं करना पड़ा। शास्त्रों के अध्ययन के अनन्तर वह उनके गम्भीर चिन्तन में लग जाता और गृहस्थ जीवन के साधारण से साधारण कामों में भी वह बहुत विचार-विमर्श करके तब कुछ निर्णय करता। वैसे तो उसके पिता-माता महर्षि गौतम और अहल्या उसे कभी कोई कार्य सौंपते नहीं थे, क्योंकि वह जानते थे कि जो काम दूसरों के द्वारा एक घड़ी में पूरा हो सकता है, उसके लिए चिरकारी को दो-तीन दिनों की आवश्यकता होगी, तथापि गम्भीर विषयों पर वह यदा-कदा चिरकारी की भी सम्मति अवश्य लेते थे। उन्होंने अनुभव किया था कि ऐसे कामों में चिरकारी की सम्मति सुविचारित और मंगलकारिणी होती है।

एक बार महर्षि गौतम के आश्रम में एक बड़ी दुर्घटना हुई। पुराणों का कहना है कि देवराज इन्द्र ने गौतम की त्रैलोक्य-सुन्दरी पत्नी अहल्या के साथ छलपूर्वक दुराचरण किया और शीघ्र ही इस दुर्घटना की चर्चा भी भूमण्डल भर में फैल गई। महर्षि गौतम के सुखी-जीवन में यह सर्वाधिक शोकदायी प्रसंग था। उन्होंने स्वप्न में भी ऐसे दारुण प्रसंग की कल्पना नहीं की थी। अहल्या को वह अपने प्राणों के समान प्यार करते थे और उसी प्रकार अपनी लोक-प्रतिष्ठा के प्रति भी वह सदैव सचेष्ट रहते थे, किन्तु इस दारुण दुर्घटना ने इन दोनों का विनाश कर उनको स्तम्भित कर दिया। देवराज इन्द्र को भयंकर शाप देने के अनन्तर भी जब उनका शोकावेग कुछ कम नहीं हुआ तो उन्मत्त की भाँति अहल्या को सदा के लिए समाप्त कर देने को वह दौड़ पड़े किन्तु अहल्या उस समय अपने प्राणों के भय से आश्रम के भीतर ही कहीं छिप गई थी। स्वयं अहल्या का इसमें कोई दोष नहीं था। उसे भ्रम में डाल कर यह पाप-कर्म किया गया था, किन्तु इससे उत्पन्न परिणामों की चिन्ता से महर्षि गौतम का बुद्धि-विवेक नष्ट हो गया था। बड़ी देर तक अपने आश्रम में अहल्या को खोज-ढूँढ़ कर भी जब वे उसे न पा सके तो एक वृक्ष के नीचे बैठ कर और दोनों घुटनों के बीच में सिर रख कर दीर्घ-

श्वास लेते हुए आँसू बहाने लगे। उनके नेत्रों में उस समय त्रैलोक्य को भी जला देने वाली अमर्ष की अग्नि जल रही थी और उनके सदा प्रसन्न मुखमण्डल और ललाट पर उत्पन्न कुटिल रेखाओं से अश्रु और स्वेद धाराओं का संगम हो रहा था। हृदय जल रहा था। मस्तिष्क निष्क्रिय हो चुका था और क्रोधावेग के तूफान में काँपते हुए वृक्ष के समान वह कुछ अस्फुट ध्वनि भी कर रहे थे।

गौतम के शोक-संवेग के इस भीषण तूफान ने क्षण भर में ही उनके आश्रम को विकम्पित कर दिया। उनके सभी पुत्र तथा शिष्य भाग कर दूर निकल गये। अहल्या कहीं ऐसी जगह छिप गई, जहाँ से ढूँढ़ निकालना सहज नहीं था। केवल चिरकारी ऐसे अकेले बचे थे, जिन्हें इस भयंकर विपदा की सूचना होते हुए भी मानों कुछ विशेष नहीं हुआ था। वह एकान्त में बैठे हुए अपने पिता के समीप गये और बिना कुछ कहे-सुने ही उनके शोक-संवेग की प्रचण्डता को देखते हुए खड़े रहे। अधोमुख होने के कारण कुछ देर तक तो गौतम ने उनकी ओर देखा ही नहीं किन्तु कुछ समय बाद जब उन्होंने सिर उठाया तो चिरकारी को सामने उपस्थित देख कर बड़े कष्ट से कहा—

'आयुष्मन् ! आज मेरा जीवन नरक बन गया है। पापात्मा देवराज ने मेरी सुख-शान्ति से भरी गृहस्थी में आग लगा दी है। मेरा हृदय जल रहा है। अपकीर्ति और अमंगल से भरे भविष्य को लेकर मैं अब अधिक दिनों तक इस धरती पर नहीं रहना चाहता क्योंकि अपकीर्ति ही मृत्यु है। जिस धरती पर देवदुर्लभ आनन्द, सन्तोष और शान्ति से मैंने जीवन बिताया है उसी पर इस तरह कलंकित होकर भला अब कैसे रह सकता हूँ, किन्तु आततायियों को दण्डित किये बिना भी मुझसे नहीं रहा जाता है। देवराज इन्द्र को तो मैंने उसके अपकर्मों का दण्ड दे दिया है, किन्तु अभागी अहल्या अभी बची हुई है। उसके सुन्दर स्वस्थ शरीर से मेरा बड़ा मोह था। मैं नहीं जानता था कि उस स्वर्ण-कलश में हलाहल भरा हुआ है। किन्तु आज मैंने जाना कि उसका हृदय कलुषित था। उसके

विचार पाप-पूर्ण थे। अतः उसे भी अपने अपकर्म का दण्ड देना उचित होगा वत्स ! मेरी आज्ञा है कि तुम इसी कृपाण से उसका सिर काट कर अलग कर दो। उसके पापी मुख को मैं अब आगे नहीं देखना चाहता। वत्स ! यही मेरी आज्ञा और यही मेरी अन्तिम इच्छा है।'

महर्षि गौतम की इस क्रोध भरी वक्तृता के बाद भी चिरकारी ऐसे चुप बने रहे मानों उन्होंने कुछ सुना ही नहीं था। उनके मुख पर विकार की कोई रेखा पहले नहीं थी और न पिता के इस क्रोध तथा आवेश से भरी बातों का ही उन पर कोई प्रभाव पड़ा। 'बहुत अच्छा' कह कर वह पूर्ववत् चुप हो गया और उधर गौतम यह दारुण आज्ञा सुनाने के बाद उस वृक्ष के नीचे से उठ कर वन की ओर चले गये। उनके क्रोध और शोक का वेग इस कठोर आज्ञा के बाद स्वभावतः कम हो गया था, क्योंकि दोनों दण्डनीयों को कठोर दण्ड दे देने के पश्चात् अब और कुछ करणीय भी तो नहीं था।

इधर गौतम के चले जाने के अनन्तर चिरकारी को अपने पिता की दारुण आज्ञा का जब बोध हुआ तो वह सोचने लगा कि—"मैं ऐसा कौन-सा उपाय निकालूँ, जिससे पिता की आज्ञा का पालन हो जाय और माता का वध भी न करना पड़े। पिता की आज्ञा-पूर्ति यद्यपि महान् धर्म कही गई है तथापि इस धर्म के बहाने मेरे ऊपर महान् संकट आ गया है। भला साधारण असाधु पुरुषों की भाँति मैं इस पाप-समुद्र में डूबने का साहस कैसे कर सकता हूँ ?

उसने सोचा—"शास्त्रों ने पिता की आज्ञा के पालन को परम धर्म बतलाया है और उसी प्रकार सभी प्रकार की विपदाओं से माता की रक्षा करना भी पुत्र का परम धर्म कहा गया है। जब तक माता-पिता जीवित रहते हैं तब तक पुत्र कभी स्वतंत्र नहीं होता, उसे माता-पिता की आज्ञा के अधीन रहना चाहिए। अतः ऐसा कौन-सा उपाय करूँ, जिससे धर्म की हानि न हो।

"माता की हत्या—कितना भयंकर अपकर्म है। एक तो स्त्री जाति,

दूसरे अपनी माता—भला कौन ऐसा अभागा पुत्र होगा जो अपनी माता की हत्या जैसा भीषण पाप-कर्म करके संसार में जीवित रहना चाहता हो। किन्तु दूसरी ओर पिता की आज्ञा की अवहेलना करके भी कौन पुत्र सुखी रह सकता है। पिता का अनादर अथवा पिता की आज्ञा की अवहेलना भी महान् पाप है। मैं कौन-सा ऐसा उपाय निकालूँ, जिससे इस महान् धर्म-संकट से मेरा उद्धार हो सके।"

इस प्रसंग में चिरकारी ने पिता और माता की महत्ता और प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में अलग-अलग विचार किए। सबसे पहले उसने पिता के सम्बन्ध में शास्त्रों का यह विचार एकत्र किया—

'पुत्र क्या है और पिता क्या है ? वास्तव में पिता ही पुत्र है क्योंकि वह अपने गोत्र, कुल, शील-सदाचार, धन-वैभव, विद्या-प्रतिष्ठा और यश की रक्षा के लिए स्त्री के गर्भ में अपने को स्वयं आधान करता है और कुछ काल पश्चात् पुत्र रूप में उत्पन्न होता है। अतः माता और पिता दोनों का मेरे इस शरीर के साथ गहरा सम्बन्ध है। दोनों ही मेरे उत्पत्ति के कारण हैं। मेरे जात-कर्म, नामकरण और उपनयन संस्कारों के समय पिता ने जो आशीर्वाद दिये हैं, वह पिता के गौरव का निश्चय कराने में पर्याप्त और सुदृढ़ प्रमाण हैं।

'शरीर के भरण-पोषण करने तथा शिक्षा देने के कारण पुत्र का प्रधान गुरु पिता ही है। वह परम धर्म का साक्षात् स्वरूप है। पिता जो कुछ आज्ञा दे, उसे परम धर्म समझ कर स्वीकार करना पुत्र का कर्तव्य है। वेदों में भी पिता को धर्म की मूर्ति कहा गया है। पुत्र पिता के संपूर्ण स्नेह और प्रीति की मूर्ति है और उसी प्रकार पिता पुत्र का सर्वस्व है, उसकी श्रद्धा, पूजा, अर्चना, भक्ति और आदर का वही एक मात्र आधार है। क्योंकि इस संसार में अकेला पिता ही पुत्र को शरीर आदि सम्पूर्ण देने योग्य वस्तुओं का दाता है। इसलिए मुझे अपने परम विद्वान्, धर्म-मर्मज्ञ और तपस्वी पिता की आज्ञा का पालन करना चाहिए। शास्त्रों में कहा भी गया है कि—जो पुत्र पिता की आज्ञा का पालन करता है, उसके

सम्पूर्ण पातक नष्ट हो जाते हैं।

'अधिक क्या कहा जाय, इस संसार में पिता धर्म हैं, पिता स्वर्ग हैं और पिता ही सबसे बड़े तप हैं। पिता के प्रसन्न होने पर सम्पूर्ण देवता प्रसन्न होते हैं। पिता अपने पुत्र को यदि कभी कोई कठोर बात कह देता है तो वे आशीर्वाद बन कर उसे अपना लेती हैं और यदि पिता अपने पुत्र का अभिनन्दन करता है, मीठे बचन बोल कर उसका आदर करता है, अपना प्यार प्रकट करता है तो इससे पुत्र के सम्पूर्ण पापों का, अरिष्टों का और अकल्याणों का शमन होता है।

'फूल अपने डंठल से अलग हो जाता है, फल वृक्ष से अलग हो जाता है, किन्तु पिता कितने ही कष्ट में क्यों न हो, लाड़-प्यार से पाले हुए पुत्र को कभी नहीं छोड़ता है। अपने शरीर के छूटने तक वह अपने प्यारे पुत्र को अपने से अलग नहीं करता है।'

इस प्रकार चिरकारी ने अपने पिता की उस कठोर आज्ञा के पालन के पूर्व धर्म की व्यवस्था का अनेक प्रकार से विवेचन करते हुए पिता की महिमा पर जब पर्याप्त सोच-विचार कर लिया तो उनकी आज्ञा के पालन के लिए भी वह तैयार हो गया किन्तु उसी क्षण उसका अपनी ममतामयी माता की ओर भी ध्यान गया और उधर ध्यान जाते ही वह अपने पिता की कठोर आज्ञा का स्मरण कर सिहर उठा। उसकी आँखें गीली हो गईं। हृदय धड़कने लगा और कटि-प्रदेश में पीड़ा होने लगी। उसने सोचा—

'मेरा यह भौतिक शरीर मेरी माता की देन है। जैसे अग्नि के उत्पन्न करने का मुख्य हेतु अरणी (काष्ठ) है, वैसे ही मेरे शरीर की उत्पत्ति का मुख्य हेतु मेरी माता है। संसार में समस्त दुःखी प्राणियों को सुख और सान्त्वना देने वाली उसकी माता ही होती है। जब तक माता जीवित रहती है तब तक मनुष्य अपने को सनाथ समझता है और जब वह नहीं होती तब अनाथ हो जाता है।

'माता के जीवित रहते हुए मनुष्य को कभी चिन्ता नहीं होती।

वृद्धावस्था उसे अपनी ओर नहीं खींच पाती। जो मनुष्य अपनी माता को पुकारते हुए घर में प्रवेश करता है, वह अत्यन्त निर्धन होते हुए भी मानों अन्नपूर्णा की शरण में पहुँचता है। यही नहीं, पुत्र तथा पौत्रों से सम्पन्न रहते हुए भी जो व्यक्ति अपनी माता के अधीन रहता हैं, वह सौ वर्ष की अवस्था में भी अपनी माता के पास दो वर्ष के बालक की भाँति आचरण करता है।

'पुत्र असमर्थ हो या समर्थ हो, दुर्बल हो या हृष्ट-पुष्ट हो, कुरूप हो या सुन्दर हो, माता अपने हृदय के टुकड़े के समान उसकी देख-रेख करती है। पालन-पोषण करती है। माता के सिवा दूसरा कोई विधि-पूर्वक उसका पालन-पोषण या देख-रेख नहीं करता। पिता अपने योग्य पुत्र को ही प्रायः आदर देता है किन्तु माता की ममता अपने अयोग्य पुत्र पर ही अधिक होती है। इसलिए मेरा मत है कि माता के समान शीतल-सुख-शान्ति-दायिनी छाया इस संसार में कोई दूसरी नहीं है। जो सुख माता की छत्रछाया में है वह त्रैलोक्य के साम्राज्य के छत्र में भी नहीं है। माता के समान रक्षक इस धरती पर कोई अन्य नहीं है।

'गर्भ में धारण करने के कारण वह धात्री है। जन्म देने के कारण वह जननी है। अंगों का सम्बर्धन करने के कारण वह अम्बा है। वीर सन्तान का प्रसव करने के कारण वीरसू है। वह अपना ही निकटतम शरीर है। भला इस संसार में ऐसा कौन-सा पागल या अविवेकी पुरुष होगा, जो अपनी माता की हत्या जैसा नृशंस कर्म करेगा। वास्तव में माता पिता से भी बढ़ कर महिमामयी है, क्योंकि पुत्र का गोत्र क्या है, इसकी जानकारी केवल उसी के पास रहती है। पुत्र किस पिता का जन्मा है, यह माता के सिवा कोई दूसरा नहीं बता सकता।

'भला जो माता पुत्र को अपने गर्भ में धारण करती है, अपनी समस्त शारीरिक असुविधाओं की कोई चिन्ता न कर अपने पुत्र के लिए सब प्रकार के कामों को करने में घृणा नहीं करती, उससे बढ़ कर पुत्र का हितैषी दूसरा कौन हो सकता है? पिता का अपनी सन्तानों पर प्रभुत्व

भले ही हो, किन्तु माता अपनी सन्तानों पर अपना सम्पूर्ण प्रेम, स्नेह और वात्सल्य रखती है। वह अपने पुत्र से कुछ भी छिपा कर रखना नहीं चाहती। ऐसी स्थिति में मैं क्या करूँ ?

'मेरी माता ने जो अपराध किया, उसमें भी वह सम्पूर्ण रूप से दोषी नहीं है, क्योंकि दुष्ट देवराज ने छल-पूर्वक उसका धर्म-नाश किया है। वह नारी है। अबला है। पराधीन है। अतः उसके अज्ञात अपराधों को पाप कोटि में नहीं गिना जा सकता। आज तक उसने हमारे पिता को या हम सब को कभी कोई कष्ट नहीं दिया। कभी कोई कठोर वाणी नहीं बोली। वह धर्म-कर्म के मर्मों को भी जानने वाली है। अतः उसको मार डालना महान् अधर्म है। ऐसा अधर्म तो नासमझ पशु भी नहीं करते। वे भी स्त्रियों को बचा जाते हैं। तब फिर मैं शास्त्रों का भली-भाँति अध्ययन कर अपनी माता को कैसे मार सकता हूँ।

'नहीं, नहीं। ऐसा कदापि नहीं होगा। अपनी पूजनीया माँ को मैं कभी नहीं मारूँगा। पण्डित लोग कहते हैं कि—पिता यदि एक स्थान पर स्थिति सम्पूर्ण देवताओं का समूह है तो माता के भीतर, उसके पवित्र स्नेह के कारण समस्त मनुष्यों और देवताओं का समूह अवस्थित रहता है। निश्चय ही माता का गौरव पिता से बहुत अधिक है। अतः पिता की उस आज्ञा का पालन मैं नहीं कर सकूँगा।' आदि, आदि।

इस प्रकार अपने स्वभाव के कारण चिरकारी अपने पिता महर्षि गौतम की उस कठोर आज्ञा का पालन बहुत समय तक नहीं कर सके और वह अपने आश्रम में इधर से उधर और उधर से इधर उन्मत्त की भाँति खड्ग लेकर घूमते रहे। इसी बीच उनकी माता अहल्या भी, जो अब तक असह्य लोक-लज्जा, ग्लानि तथा गौतम के भय से पीली पड़ गई थी, उनके समीप आकर खड़ी हो गई थी।

उधर अपार क्रोध और ग्लानि में जलते हुए गौतम जब चिरकारी को अपनी कठोर आज्ञा सुना कर नदी-तटवर्ती निर्जन वन में पहुँचे तो वाता-वरण की पवित्रता तथा एकान्त ने उनकी सहज निर्मल मति पर पड़ा हुआ

आवरण एकदम दूर कर दिया। देवराज को कठोर शाप तथा चिरकारी को कठोर आज्ञा दे देने के कारण भी उनका क्रोधावेश बहुत कुछ कम हो चुका था, और यहाँ पहुँच कर तो वे पश्चात्ताप में जलने-से लगे थे। अपनी प्राणोपम, सुन्दरी, साध्वी और सदा अनुकूल रहने वाली पत्नी के नृशंस-वध की आज्ञा दे कर उन्होंने जो जघन्य पाप किया था, उसका स्मरण कर वे सिहर उठे। बड़ी देर तक तो वे अपने को सँभाले रहे, क्योंकि दीर्घकाल के अध्ययन, अध्यापन, जप-तप और तपस्या के कारण उनमें अपार धैर्य था, किन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी वह अन्त में विचलित हो गए। पश्चात्ताप और सन्ताप के प्रबल वेग से वह काँप उठे और आँसू बहाते हुए अपनी प्राणोपम पत्नी के सद्‌गुणों का अनुस्मरण कर प्रलाप-सा करने लगे—

'देवराज इन्द्र ने मेरी साध्वी पत्नी के साथ जो छल किया है, वही इस पाप कर्म का मूल है। क्योंकि अहल्या कभी ऐसी नहीं थी। मेरी अभावों से भरी गृहस्थी को उसने अपनी मंगलमयी उपस्थिति से सदा स्वर्ग के समान सुख-शान्ति-दायिनी बना रखा था। कभी किसी पर-पुरुष पर उसने दृष्टि नहीं दी थी। मेरे कठोर तपस्वी जीवन में सब प्रकार के कष्ट सह कर भी उसने कभी कोई कठोर बात नहीं कही। निश्चय ही वह निर्दोष रही है। उसका इस पाप-कर्म में कोई हाथ नहीं है। ऐसी सर्व-गुणोपेत, सुन्दरी और आज्ञाकारिणी पत्नी के वध की आज्ञा देकर मैंने महान् पाप किया है। हाय ? न जाने मेरे किस जन्म के पाप से मुझमें वैसी कुबुद्धि उत्पन्न हुई। ईर्ष्या ने मुझे पाप के अपार समुद्र में ढकेल दिया है और मैं उसमें पूर्णतः डूब गया हूँ। मेरे उद्धार का अब कौन-सा मार्ग रह गया है।'

इस प्रकार दारुण पश्चात्ताप की अग्नि में जलते हुए महर्षि गौतम का ध्यान अपने उदारचेता पुत्र चिरकारी पर पड़ा, जो बाल्यकाल से ही अपनी चिरकारिता के लिए प्रसिद्ध था। गौतम ने सोचा यदि इस कठोर पाप कर्म को पूरा करने में भी चिरकारी ने अपने जन्मजात स्वभाव का

परिचय दिया होगा तो निश्चय ही वह मेरे उद्धार का कारण बन सकता है। अन्यथा अनेक जन्मों तक जप-तप, पूजा-पाठ और यज्ञ-याग करके भी मैं अपने इस स्त्री-वध रूपी भयंकर पाप का प्रायश्चित्त नहीं कर सकूंगा।'

यह सोचते ही गौतम की चेतना में विद्युत्-गति के समान स्फूर्ति आ गई। वे तत्काल उस नदी तटवर्ती वन्य-भूमि से भाग कर अपने आश्रम में पहुँचने के लिए व्याकुल हो उठे। वह मृग की द्रुत गति से आश्रम की ओर इस प्रकार दौड़े, मानों एक क्षण का विलम्ब भी उनके अनेक जन्मों की साधना और तपस्या को बिगाड़ देने में सक्षम है। मार्ग की एक-एक पग भूमि उनके लिए योजन बन गई। वे मन ही मन अपने सम्पूर्ण तपोवल और पुण्यराशि से चिरकारी की सहज प्रवृत्ति को सम्बल देने के लिए इस प्रकार मनाते रहे—

'बेटा चिरकारी! तेरा अनेक जन्मों तक कल्याण हो। तेरा मंगल हो। यदि आज भी तू ने विलम्ब से कार्य करने में अपने सहज स्वभाव का अनुसरण किया होगा तो मेरे समस्त संचित पुण्यों और तपोवल का फल तुम्हें मिलेगा। बेटा! आज का विलम्ब तेरे लिए, तेरी माँ के लिए और मेरे लिए, अनेक जन्म-जन्मान्तरों तक का कल्याणदायी होगा। क्योंकि यदि ऐसा नहीं हुआ होगा तो मुझे भी माता के वध का भयंकर पाप लगेगा। तेरी माता की आत्मा को भी कभी शान्ति नहीं मिलेगी और मेरा तो अनेक जन्म बिगड़ेगा ही।'

इस प्रकार वन्य-भूमि से अपने आश्रम को लौटने वाले मार्ग में वायु-वेग से दौड़ते हुए महर्षि गौतम अपने बेटे चिरकारी के लिए विविध आशीर्वाद देते रहे। उनके जीवन में ऐसी स्थिति कभी नहीं आई थी। उनका हृदय धड़क रहा था। श्वासों की गति भाथी के समान हो गई थी। शरीर पसीने से डूब गया था, किन्तु वह फिर भी अपने आश्रम में पहुँचने के लिए बेचैन थे।

अन्ततः यातना की वह दूरी समाप्त हो गई और गौतम अपने आश्रम के प्रवेश द्वार पर किसी न किसी प्रकार पहुँच ही गये। उन्होंने देखा कि

चिरकारी दाहिने हाथ में खड्ग लेकर विचार-मग्न मुद्रा में खड़ा है और अहल्या अत्यन्त लज्जा और ग्लानि-भय से पीतवर्ण की होकर अपने कातर नेत्रों से धरती की ओर सिर गड़ाये हुये खड़ी है।

गौतम से नहीं रह गया। वह दूर ही से चिल्ला कर बोल पड़े—'वत्स ! चिरकारी खड्ग को फेंक दो। तू ने आज मुझे बचा लिया है। अपनी माता को बचा लिया है और स्वयं अपने को बचा लिया है। तू बहुत भाग्यशाली है। पुत्र ! अपनी माता और पिता की रक्षा करके तू ने धर्म की महनीय मर्यादा की भी रक्षा की है।'

गौतम के इस वाक्य को चिरकारी सुन भी नहीं सका, क्योंकि अपने क्रोधी पिता के स्वभाव से वह चिर परिचित था। वह यह सोच कर विचलित हो गया कि अपनी आज्ञा की पूर्ति हुई न देख कर कदाचित वह उसकी माता और स्वयं उसी के वध के लिए दौड़े चले आ रहे हैं। खड्ग को दूर फेंक कर वह दौड़ कर अपने पिता के चरणों में दण्ड के समान लेट गया और अनेक प्रकार की प्रार्थना से उन्हें सुप्रसन्न करने की चेष्टा करने लगा।

उधर अहल्या प्रतिक्षण अपनी मृत्यु की दुःखद प्रतीक्षा करती हुई, उसी भाँति खड़ी थी। उसे भी गौतम की बातों का कुछ पता नहीं था। उसका शरीर काँप रहा था और नेत्रों की ज्योति के समान कानों की सुनने की शक्ति भी जैसे नष्ट हो गई थी।

गौतम ने सुप्रसन्न चित्त से चिरकारी को उठा कर अपनी छाती और गले से चिपका लिया और अविरल आँसुओं की वर्षा के साथ उसके मस्तक को सूँघते हुये गद्गद वाणी में बड़े कष्ट के साथ कहा—

'आयुष्मन् चिरकारी ! तू धन्य है। तेरा जैसा बुद्धिमान पुत्र पाकर हम भी धन्य हैं। तेरा कल्याण हो वत्स ! तू चिरकाल तक ऐसे ही स्वभाव का न होता तो आज हमारे कई कुलों का और कई जन्मों का विनाश हो जाता। तेरी जिस सत्प्रवृत्ति ने आज हम सब की रक्षा की है, डूबते हुए पाप-समुद्र से उद्धार किया है, जलती हुई जीवन व्यापिनी पश्चा-

ताग की लपटों में झुलसने से बचाया है, मैं उसका शतशः कण्ठों से अभिनन्दन करता हूँ वत्स !'

इसके बाद भी गौतम ने चिरकारी का और अभिनन्दन किया। अनेक आशीर्वाद दिये और फिर आगे बढ़ कर अपनी प्रियतमा अहल्या से अपने अपराध के लिए खुले शब्दों में क्षमा-प्रार्थना की और अनेक पुरानी कथाओं तथा गाथाओं को सुना कर उसके मानसिक परितापों को दूर कर सुप्रसन्न किया। इसी सन्दर्भ में महर्षि गौतम ने अपने पुत्र चिरकारी तथा पत्नी अहल्या से धर्म और नीति की कुछ महत्त्वपूर्ण बातें भी बताईं। उनका सारांश अति संक्षेप में इस प्रकार है—

'अपने बन्धुओं, मित्रों, सेवकों और स्त्रियों के छिपे हुये अपराधों के विषय में जो व्यक्ति शीघ्र ही किसी निर्णय पर नहीं पहुँचता, देर तक सोचता-विचारता रहता है, वह प्रशंसनीय है, क्योंकि उसे मेरी तरह पश्चात्ताप की अग्नि में नहीं जलना पड़ता। वत्स ! इस संसार में क्रोध सब से बड़ा शत्रु है। जो मनुष्य अपने इस भयंकर शत्रु को चिरकाल तक अपने भीतर दबा कर रखता है, अथवा क्रोध के साथ किये जाने वाले कर्म को देर तक रोक रखता है, वह भी मेरी तरह पश्चात्ताप की अग्नि में नहीं जलता।'

पश्चात्ताप और विषाद से भरी इस घटना के पश्चात् गौतम का हृदय पूर्ववत् निष्कलुष बन गया। अहल्या अब पहले से भी अधिक उनकी प्राणप्रिया बन गई और चिरकारी में भी आश्चर्य-जनक परिवर्तन हो गया क्योंकि प्रथम बार उन्हें अपनी चिरकारिता और विवेक-बुद्धि पर प्रबल आस्था हुई थी। अब वह महर्षि गौतम के प्रकाण्ड पाण्डित्य, ज्ञान, विवेक, सदाचार, तपस्या और कुल-मर्यादा के वास्तविक उत्तराधिकारी बन गये और स्वल्प काल में ही उनकी धीरता, गम्भीरता, विद्वत्ता, तपस्या और साधना की सर्वत्र ख्याति हो गई।

उपमन्यु की सफलता

महर्षि धौम्य के आश्रम में एक बार उपमन्यु नामक एक अन्तेवासी विद्यार्जन के लिए आया। वह पढ़ने-लिखने का बड़ा प्रेमी नहीं था। उसकी बुद्धि मन्द थी और शास्त्रीय विषयों की ओर उसका आकर्षण नहीं था। आश्रम के छोटे-मोटे कामों में वह लग जाता था। खेती-बारी के कामों में तो कम किन्तु गौओं की सेवा में उसे विशेष आनन्द आता था। बहुत दिनों तक आश्रम में रहने के बाद भी जब पढ़ने-लिखने में उसने कोई विशेष प्रगति नहीं दिखाई तो आचार्य धौम्य ने उसे गौओं के चराने का ही काम सौंप दिया। वह प्रतिदिन प्रातः उठकर अपने नित्य कर्मों से छुटकारा पाकर गौशाला से गौओं को ले लेता और दिन भर नदी-तटवर्ती वन के विभिन्न भागों में चराता रहता। गौएँ ही उसकी आराध्य थीं। दिन भर छाया की तरह वह उनके पीछे लगा रहता और सूर्यास्त से कुछ पहिले ही उन्हें आश्रम में वापस लाकर गोशाला में बाँध देता और फिर अपने नित्य-कर्मों में लग जाता। दिन भर के परिश्रम के बाद वह समीपवर्ती गाँवों की ओर जाता और वहाँ से अपने एक समय के भोजन मात्र के लिए भिक्षाटन करता।

इस प्रकार कुछ दिन जब बीत गये और उपमन्यु का जीवन आचार्य की गौओं की सेवा का अटूट अंग बन गया तो स्वभावतः उसका अध्ययन धीरे-धीरे एकदम बन्द हो गया। अध्ययन की ओर उसकी रुचि पहिले ही से विशेष नहीं थी और अब तो दिन भर के गो-चारण के कारण वह थक कर चूर-चूर हो जाता और रात्रि में ऐसी गाढ़ी निद्रा आती थी कि सबेरे उठ कर स्वाध्याय के लिए समय ही न मिल पाता था, किन्तु दिन-भर के शारीरिक परिश्रम के कारण उसका स्वास्थ्य दिनों-दिन अच्छा होता गया और थोड़े ही दिनों बाद उसके सुघड़ शरीर की ओर न केवल

उसके आश्रमवासी सहपाठियों का ही ध्यान आकृष्ट होने लगा, वरन् आचार्य धौम्य ने भी उससे एक दिन कहा—

'वत्स उपमन्यु ! तुम दिन भर गौओं के पीछे लगे रहते हो । हमारे आश्रम में ठीक से किसी के भी खान-पान की सुविधा नहीं है । तब फिर क्या कारण है जो दिनों-दिन तम्हारा शरीर सुपुष्ट और स्थूल होता जा रहा है ?'

उपमन्यु सहज भाव से विनीत वाणी में बोला—'पूज्य गुरुदेव ! मैं अपने लिए रात्रि में समीपवर्ती गाँवों से भिक्षा माँग लाता हूँ । वही मेरे स्वास्थ्य और स्थूलता का कारण हो सकती है ।'

धौम्य कुछ क्षण चुप रहे, फिर बोले—'किन्तु वत्स ! एक आश्रम-वासी के नाते तुम्हारा यह आचरण उचित नहीं है । तुम्हें भिक्षा में जो कुछ मिलता है, वह सर्वप्रथम मेरे सामने रख दिया करो । मेरी आज्ञा से ही तुम भिक्षा ग्रहण कर सकते हो ।'

उपमन्यु को आश्रम की यह मर्यादा सचमुच ज्ञात नहीं थी । वह लज्जित स्वर में बोला—'गुरुदेव ! अब से आगे ऐसा नहीं करूँगा ।' उस दिन से उपमन्यु जो कुछ भिक्षा के लिए माँग कर लाता, वह गुरु के समीप रख देता और गुरु उसमें से कुछ भी उपमन्यु के लिए न देकर चुप बैठे रह जाते ।

किन्तु उपमन्यु उदास नहीं हुआ । वह तब भी पूर्ववत् प्रसन्न बना रहा । सारे दिन गो-सेवा का उसका व्रत भी अखण्ड रहा । प्रतिदिन सन्ध्या के समय गुरु के चरणों में शीश झुका कर और भिक्षा अर्पित कर वह परम प्रसन्न होता । इस प्रकार जब कुछ दिन और बीत गये तो महर्षि धौम्य ने देखा, उपमन्यु के शरीर की पुष्टि और मोटाई अब भी कम नहीं हुई है, वरन् वह पूर्ववत् बढ़ती ही जा रही है । एक दिन धौम्य से नहीं रहा गया और उन्होंने पूछा—

'वत्स उपमन्यु ! तुम प्रतिदिन सन्ध्या के समय भिक्षा माँग कर जो कुछ भी लाते हो, सारा का सारा मेरे सामने रख देते हो और मैं

उसमें से कुछ भी तुम्हारे लिए नहीं छोड़ता। तिस पर भी मैं देख रहा हूँ कि तुम दिन पर दिन मोटे होते चले जा रहे हो। इसका रहस्य मेरी समझ में नहीं आ रहा है। मैं जानना चाहता हूँ कि आज कल तुम क्या खाते-पीते हो ?'

उपमन्यु बोला—'भगवन् ! जब मैंने देखा कि बिना खाने-पीने से बड़ा कष्ट होता है तो मैं एक बार आपको देने के लिए भिक्षा माँग लाने के बाद पुनः दूसरी बार भिक्षा माँग कर खा लेता हूँ, क्योंकि आखिरकार गो-सेवा का कठिन कार्य भूखे शरीर द्वारा सम्भव नहीं था।'

धौम्य को उपमन्यु के इस उत्तर से धक्का लगा। वह कुछ रुष्ट स्वर में बोले—'यह तो तू बड़ा ही अन्याय और अनुचित काम किया करता है। तेरे ऐसा करने से हमारे आश्रम की अप्रतिष्ठा ही नहीं हो रही है, वरन् दूसरों की भिक्षा का हक भी मारा जा रहा है। भले लोग ऐसा काम भूल कर भी नहीं करते !'

उपमन्यु अपनी अज्ञानता पर आज भी लज्जित होकर शिर झुका कर चुप रह गया और उस दिन से दूसरी बार की भिक्षा भी बन्द कर दी। वह दिन भर गौओं को चराता और सायंकाल गुरु के चरणों में आकर शीश झुका कर खड़ा हो जाता था। न उसकी चेष्टा में कोई विषाद था और न शरीर में कृशता। पूर्ववत् सुप्रसन्न और सुपुष्ट उसके शरीर की कान्ति अब भी उत्तरोत्तर वृद्धि पा रही थी। महर्षि ने आश्चर्य से देखा, उपमन्यु में कोई परिवर्तन नहीं था। उसकी पुष्टि और स्थूलता अब भी बढ़ती जा रही थी। वे फिर बोले—

—'वत्स उपमन्यु ! तू अपनी भिक्षा का सम्पूर्ण अन्न तो प्रतिदिन मुझे लाकर दे देता है और फिर से दुबारा अपने लिए माँगने भी नहीं जाता, किन्तु तिस पर भी मैं देख रहा हूँ कि तुम्हारी स्थूलता बढ़ती ही जा रही है। इसका क्या रहस्य है ? आज कल तेरे भोजन की क्या व्यवस्था है—यह तुझे बताना पड़ेगा ?'

उपमन्यु पुनः सहज प्रसन्न वाणी में बोला—'गुरुदेव ! मैंने देखा कि

बिना भोजन के एक-दो दिन भी गोचारण करना बड़ा कठिन है तो मैंने गौओं का दूध पीना शुरू कर दिया है।'

धौम्य बोले—'किन्तु हमने तो तुझे दूध पीने की आज्ञा कभी दी नहीं थी और न तूने ही मुझसे कभी इसके लिए पूछा था। तब भला तू आश्रम की गौओं का दूध क्यों पीने लगा ? यह तो ठीक नहीं है कि आश्रम की गौओं का दूध तू बिना मेरी अनुमति और जानकारी के पिया कर। खबर-दार भविष्य में ऐसा कभी मत करना।'

महर्षि धौम्य की इस फटकार से उपमन्यु प्रतिहत नहीं हुआ। हाँ, अपनी भूल पर उसे पश्चात्ताप जरूर हुआ। गुरु के चरणों में भक्ति समेत शीश झुका कर वह पूर्ववत् अपने कामों में लग गया।

कई दिनों बाद महर्षि धौम्य की दृष्टि उपमन्यु पर फिर पड़ी। यद्यपि वह पहले ही की तरह अब भी प्रति दिन गौओं की सेवा और भिक्षाटन के बाद आकर उनके चरणों में शीश झुकाता था तथापि वे उससे कुछ बोलते नहीं थे। उन्होंने देखा कि गौओं के दूध पीने से मना कर देने के अनेक दिनों बाद भी उपमन्यु न तो दुबला हुआ है और न उसकी प्रसन्नता और स्फूर्ति में ही कोई कमी हुई है। उसके विकसित मुख की मुस्कराहट अब भी ज्यों की त्यों है और गुरु के चरणों में उसकी प्रीति और भक्ति में भी कोई कमी नहीं दिखाई पड़ रही है।

धौम्य ने फिर पूछा—'वत्स उपमन्यु ! अब तो तू अपने लिए दुबारा भिक्षा भी नहीं लाता। आश्रम की गौओं का दूध पीने से भी तुम्हें मना किया जा चुका है और मुझे विश्वास है कि तू मेरी आज्ञा का उल्लंघन न करता होगा, किन्तु मैं देख रहा हूँ कि तुम्हारा मोटापा अब भी कम नहीं हो रहा है। मैं जानना चाहता हूँ कि आजकल तू क्या खा-पी रहा है ?'

उपमन्यु तत्क्षण सुप्रसन्न स्वर में बोला—'भगवन् ! बछड़ों के मुख से माँ का दूध पीते समय जो कुछ फेन गिरता रहता है, आजकल मैं वही खा-पी लेता हूँ।'

धौम्य कुछ क्षण गम्भीर रहे। फिर बोले—'बेटा ! अब से तू ऐसा

कभी मत करना, क्योंकि इन बछड़ों के हृदय में बड़ी दया रहती है। जब वे तुझे अपना जूठा फेन खाते देखते होंगे तो अपनी माँ का दूध पीना छोड़ कर तेरे लिए अधिक से अधिक फेन डाल दिया करते होंगे। इससे तो उन बेचारों का पेट भी न भरता होगा और वे भूखे रह जाते होंगे। भला बताओ! तुम्हें उनको इस प्रकार का कष्ट देने का क्या अधिकार है? मेरी आज्ञा है कि अब भविष्य में तुम बछड़ों का जूठा फेन मत खाना।'

उपमन्यु बोला—'गुरुदेव! आपकी बात सत्य है। अवश्य ही बछड़े बड़े दयावान हैं, क्योंकि मेरे लिए अधिक फेन गिराते रहे हैं। मैं आपकी आज्ञा स्वीकार करता हूँ और आज से वह फेन भी न खाया करूँगा। मुझसे जो भूल हुई है, कृपा कर उसके लिए क्षमा करेंगे।'

धौम्य चुप रहे और उपमन्यु शिर झुका कर गौओं के पीछे चला गया। अब उस बेचारे के आहार के सभी द्वार गुरु द्वारा बन्द किये जा चुके थे। न तो अपने लिए भिक्षा माँग सकता था, न गौओं का दूध पी सकता था और न बछड़ों का जूठा फेन ही खा सकता था। अब उसने अपने जीवन के लिए कुछ नये निश्चय किये। भूख और प्यास को तब तक सहन किया जाय, जब तक शरीर खड़ा रह सके—इस नवीन निश्चय पर अडिग रह कर उसने गुरु की गौओं की सेवा आरम्भ की। कई दिन-रात बीत गये। भूख और प्यास के कारण जब वह बेदम होने लगा तो सामने के वृक्षों से पत्ते तोड़ कर चबाने लगा, किन्तु पत्तों से मानव के शरीर की रक्षा किस प्रकार होती। दस-पन्द्रह दिनों के भीतर उसका शरीर सूख कर काँटा हो गया, किन्तु उसके सुप्रसन्न मुख-मण्डल की स्मिति-रेखा कभी मलिन नहीं हुई। उसका गो-सेवा का व्रत अखण्ड रहा। अब भी वह प्रति दिन गुरु के चरणों में सन्ध्या के समय भिक्षान्न लेकर सभक्ति उपस्थित होता था। किन्तु गुरु थे, जिन्होंने कभी भूल कर भी उसके शरीर और कष्टों के बारे में कोई प्रश्न नहीं पूछा। जब वह भिक्षान्न निवेदित करने जाता तो वह अपनी दृष्टि दूसरी ओर कर लेते या उसे देखते हुए भी चुप रहते और कुछ न पूछते-पाँछते। किन्तु इतने पर भी उपमन्यु की

चेतना कभी विलुप्त नहीं हुई और न उसकी गुरुभक्ति ही कभी दूषित हुई। उसने अपने नित्य कर्त्तव्यों की कभी उपेक्षा भी नहीं की। जब तक शरीर में शक्ति शेष रही वह किसी प्रकार गौओं की सेवा में लगा रहा। गुरु के लिए सन्ध्या समय भिक्षाटन भी करता रहा। अपने नित्य के पूजा-पाठ में भी कभी त्रुटि नहीं होने दी, किन्तु इधर दो-एक दिनों से उसे इन सब कामों में बड़ी कठिनाइयाँ आने लगीं।

उसका कुछ दूर तक चलना भी असम्भव हो गया। नित्य प्रति जिस किसी भी वृक्ष के रूखे-सूखे पत्तों को खाने के कारण उसके नेत्रों की ज्योति भी मन्द होती गई और वह धीरे-धीरे एक दिन पूर्णतः अन्धा हो गया। उस दिन गौओं को साथ लेकर वह आश्रम से जब वन की ओर गया तो मार्ग में बड़ी-बड़ी दिक्कतें पड़ीं। यद्यपि मार्ग जाना-पहचाना था और कई महीनों से गौओं और बछड़ों की गतिविधि से सुपरिचित होने के कारण वह उन्हें गोशाला से हाँक कर वन की ओर चल पड़ा, तथापि मार्ग में कई बार ऊँची-नीची जमीन और कंकरों पर वह गिरता-पड़ता रहा। अन्ततः जब सन्ध्या हुई और गौओं को आश्रम की ओर वापस लाने का समय आया तो वे उसके आस-पास खड़ी हो कर रँभाने लगीं।

अन्धा होने के कारण उपमन्यु को समय का ज्ञान नहीं रह गया था और कई दिनों की असह्य भूख-प्यास के कारण भी वह चेतना-शून्य के समान हो रहा था, किन्तु गौओं की आवाज सुन कर वह किसी प्रकार उठ खड़ा हुआ और लाठी लेकर उनके पीछे-पीछे आश्रम की ओर वापस चला। गौएँ तो अपने बछड़ों के साथ शीघ्रता से आश्रम को पहुँच गईं किन्तु बेचारा उपमन्यु मार्ग के पार्श्ववर्ती एक अन्धकूप में गिर पड़ा, जिसमें पानी तो उसके डूबने भर का नहीं था, किन्तु वह इतना टूटा-फूटा और गहरा था कि उसके भीतर से उस जैसे अशक्त और अन्धे का निकलना सर्वथा असम्भव था। उसने समझ लिया कि आज उसके जीवन की समाप्ति है, किन्तु पिछले कुछ दिनों से अनन्य भाव से गुरु और गौओं की सेवा में अपना जीवन बिताने के कारण उसे इस विपत्ति में भी बड़ा सुख

और सन्तोष मिला। चुपचाप एक ओर उठँग कर उस भयानक अन्ध कूप के भीतर वह अपनी मृत्यु की सुखद प्रतीक्षा करने लगा।

उधर उपमन्यु के बिना गोशाला में पहुँची गौओं ने उपद्रव करना शुरू किया। यद्यपि उन्हें मानव वाणी नहीं मिली थी तथापि अपने अनन्य सेवक के संकटों का उन्हें पूरा पता था। गोशाला में पहुँच कर वे तीव्र स्वर में बोलने लगीं। अपने तीक्ष्ण खुरों से गोशाला की भूमि खोदने लगीं। अपने-अपने बछड़ों को मारने लगीं। परस्पर लड़ने-भिड़ने लगीं और कुछ ही क्षणों के बाद अपने भयंकर उपद्रवों से उन सब ने आश्रम-वासियों को आतंकित कर दिया।

महर्षि धौम्य ने जब देखा तो अपनी सीधी-सादी गौओं का यह उपद्रव उन्हें सकारण जान पड़ा। वे अपने आसन से उठकर गौओं के बीच जब पहुँचे तो सभी गौएँ चुपचाप खड़ी होकर आँसू बहाने लगीं। कुछ क्षण बाद करुण स्वर में रँभाने लगीं और जिस दिशा से प्रतिदिन उन्हें अपने संग लेकर उपमन्यु आता था, उसी दिशा की ओर चलने के लिए महर्षि धौम्य को मानों संकेत करने लगीं। यही बेला होती थी, जब प्रति-दिन उपमन्यु गुरु के चरणों में भिक्षान्न भेंट करता था, किन्तु आज आश्रम में उसका कोई पता नहीं था। धौम्य को यह दुर्घटना समझने में विलम्ब नहीं लगा, वे जान गये कि कई दिनों के भूखे-प्यासे उपमन्यु पर या तो कोई गंभीर संकट आ गया है या वह अप्रसन्न होकर हमारे आश्रम से भाग गया है।

उसी क्षण धौम्य ने अपने प्रमुख शिष्यों को साथ लिया और वन के उस भाग की ओर चल पड़े, जिस ओर से प्रतिदिन उपमन्यु गौएँ लेकर वापस लौटता था।

कुछ ही दूर वन में प्रविष्ट होने पर महर्षि ने उपमन्यु को पुकारना शुरू किया। उस समय उनकी वाणी में बड़ी बेकली और ममता थी।

—'बेटा उपमन्यु! तुम कहाँ हो, जो मेरी बात भी नहीं सुन रहे हो?'

किन्तु दस ही पाँच बार पुकारने के बाद गुरुवर धौम्य और उनके शिष्यों को समीपवर्ती कुएँ से एक क्षीण आवाज सुनाई पड़ी। उपमन्यु कह रहा था—

—'भगवन् ! मैं इस अन्धे कुएँ में गिर पड़ा हूँ। आप यहाँ आइये।"

धौम्य विद्युतगति से दौड़कर अपने शिष्यों के समेत उस अन्ध कूप के पास पहुँच गये, जिसके भीतर से उपमन्यु की वह क्षीण आवाज सुनाई पड़ रही थी। उन्होंने देखा, वन के भीतर चारों ओर घनान्धकार अपना साम्राज्य फैला रहा है, और उस अन्ध कूप में तो मानों उसका अक्षय भाण्डार भरा पड़ा है। उपमन्यु की वाणी के सिवा उसमें से न तो कोई अन्य आवाज आ रही थी और न कोई वस्तु दिखाई ही पड़ रही थी।

धौम्य ने पूछा—'वत्स ! तुम इस अन्ध-कूप में कैसे गिर पड़े ?'

उपमन्यु बोला—'भगवन् ! आक के पत्तों को कई दिनों तक खाते रहने के कारण मैं अन्धा हो गया था। आज वापस आते समय मैं इसमें गिर पड़ा। क्या करूँ, मेरे शरीर में भी शक्ति नहीं है, जो इस कुएँ से बाहर निकल सकूँ। मुझे तो बोलने में भी बड़ा कष्ट हो रहा है, गुरुदेव !'

उपमन्यु की स्थिति महर्षि धौम्य से छिपी नहीं थी। उन्होंने बिना बताये ही जान लिया कि भिक्षान्न, दूध, और फेन को बंद कर देने के कारण ही उसकी यह दशा हुई है। कुछ क्षण चुप रहकर उन्होंने उपमन्यु से कहा—

—'बेटा ! तू अश्विनीकुमारों की स्तुति कर। तेरी आँखें अच्छी हो जायँगी और तेरे शरीर में शक्ति भी आ जायगी। मैं तुम्हें पहले ही उनका मंत्र बता चुका हूँ।'

उपमन्यु ने अनुभव किया कि गुरु की सहज कृपा से उसे इस अवस्था में भी अश्विनीकुमारों का मंत्र भली भाँति स्मरण है। वह उन्हीं मंत्रों से अश्विनीकुमारों की आराधना करने लगा। इधर अन्ध कूप से बाहर खड़े धौम्य और उनके शिष्य भी उपमन्यु के लिए अश्विनीकुमारों की

स्तुति करते हुए उसे एकाकी छोड़कर अपने आश्रम की ओर वापस चले आये।

उपमन्यु की आराधना सफल हुई। उसके अमोघ मंत्रों से सुप्रसन्न दोनों अश्विनीकुमार अपनी अलौकिक आभा से वन का समस्त अन्धकार दूर करते हुए जिस क्षण उस अन्धकूप के भीतर आये, उस क्षण वह दिव्य प्रकाश से जगमगाने लगा। अन्धे उपमन्यु की आँखें भी चकमका उठीं। वह उठकर उनकी पुनः स्तुति करने लगा।

अश्विनीकुमार बोले—'उपमन्यु, हम तुम्हारी स्तुति और आराधना से परम प्रसन्न हैं। अपनी अटूट गुरु-भक्ति, गो-सेवा तथा सत्य-परायणता से तुमने मेरी प्रीति प्राप्त कर ली है। हम तुम जैसे सरल-हृदय नवयुवक की साधना पर सुप्रसन्न होकर यह एक पिष्ठक (एक मिठाई) ले आये हैं, जिसे खा लेने के बाद तुम्हारे सभी रोगों और दोषों का शमन हो जायगा। तुम इसे अभी खा लो, क्योंकि मैं देख रहा हूँ कि कई दिनों के निरन्तर अनाहार के कारण तुम्हारा शरीर एकदम टूट-सा गया है।'

उपमन्यु विनीत वाणी में बोला—'देव! आपकी कृपा के लिए मैं आजीवन आभारी हूँ। आपकी आज्ञा टालने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है। किन्तु मेरी यह अवज्ञा क्षमा की जाय कि मैं अपने आचार्य के चरणों में अर्पित किए बिना इस पिष्ठक को खा नहीं सकता।'

दोनों अश्विनीकुमार बोले—'युवक उपमन्यु! तुम्हारे गुरु को इस पिष्ठक की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि न तो वे तुम्हारे समान कई दिनों के भूखे-प्यासे हैं, और न अन्धे होकर अन्धकूप में गिरे हुए हैं। और दूसरी बात यह भी है कि हम लोग उन्हें भी एक बार यह पिष्ठक दे चुके हैं। और उन्होंने तो अपने गुरु को दिये बिना ही वह पिष्ठक खा लिया था। गुरुजन जैसा करते हैं, वैसा करने में कोई दोष नहीं है। और तुम तो मेरी आज्ञा से इसे खाओगे, अतः विलंब करके खाने से क्या लाभ है। इसे

आते ही तुम्हारी आँखें ठीक हो जायेंगी और तुम्हारे भीतर इतनी शक्ति आ जायगी कि तुम अकेले ही इस अन्ध कूप से बाहर निकल सकोगे।'

उपमन्यु बोला—'किन्तु देव ! मेरी धृष्ठता क्षमा करें। मैं तो अपने गुरु के चरणों में अर्पित किये बिना यह पिष्ठक नहीं खा सकूंगा।'

उपमन्यु की इस दृढ़ता ने अश्विनीकुमारों को और भी प्रसन्न किया। वे बोले—'उपमन्यु ! हम लोग तुम्हारी अदम्य गुरु-भक्ति से परम प्रसन्न हैं। तुम्हारे गुरु के दाँत मेरी औषधियों के प्रभाव से लोहे के समान हैं, और तुम्हारे सोने के समान होंगे। तुम्हारी आँखें फिर से ज्योति प्राप्त करें और तुम्हारे शरीर में पूर्ववत् शक्ति, सुन्दरता और सुपुष्टि के साथ उत्तम विद्या का वास हो।' यह कहकर दोनों अश्विनीकुमारों ने उपमन्यु के अंगों का स्पर्श किया। उनके स्पर्श करते ही उसे बिजली के समान स्फूर्ति का अनुभव हुआ। उसकी निराश आँखों में ज्योति भर गई और शरीर में पहले से भी अधिक सुपुष्टि और सुन्दरता के साथ अपूर्व शक्ति मालूम पड़ने लगी। उसने देखा, उस अन्धकूप में चतुर्दिक स्वर्गीय किरणों जैसा अद्‌भुत प्रकाश बिखरा हुआ हो। सुगन्धि फैल रही है और प्राणद शीतल वायु बह रहा है। उसने देववैद्यों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त की और उनके दिये हुए पिष्ठक को आदरपूर्वक शिर से लगाकर स्वीकार किया।

फिर तो देखते ही देखते दोनों देववैद्य अन्तर्धान हो गये और उपमन्यु को उस अन्ध कूप से निकलने में तनिक भी कठिनाई नहीं हुई। उसने अश्विनीकुमारों द्वारा दिये गये पिष्ठक को हाथ में लेकर अपार हर्ष, उत्साह और उमंग के साथ गुरु के आश्रम में प्रवेश किया।

महर्षि धौम्य अपने शिष्यों के साथ अपने आश्रम में उपमन्यु के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे। अतः दूर से देखते ही उन्होंने दौड़ कर उसे अपने गले से लगा लिया और बड़ी देर तक साश्रुनयन उसका शिर सूंघते रहे। उधर, उपमन्यु का भी यही हाल था। गुरु-भक्ति की उत्कृष्ट उत्कट भावनाओं से वह ऐसा अभिभूत था कि शीघ्र ही उनके हाथों से छूटकर

दण्ड के समान उनके चरणों को पकड़कर लिपट गया और बड़ी देर तक अपने अश्रुओं से उनका पाद-प्रक्षालन करता रहा। महर्षि धौम्य के सम्पूर्ण आश्रम में उपमन्यु का यह सौभाग्य मानों व्याप्त हो गया था, क्योंकि उधर गौओं और उनके बछड़ों में भी उपमन्यु के आगमन की प्रसन्नता भर उठी थी। वे भी अपनी निगूढ़ वत्सलता को अपनी ऊँची आवाजों द्वारा बाहर निकाल रहे थे।

अन्ततः उपमन्यु को उठाकर धौम्य ने बलात् खड़ा किया और अपने स्नेह भरे हाथों से उसका सुखद स्पर्श करते हुए गद्गद् वाणी में कहा—

'वत्स ! तेरी साधना की घड़ियाँ बीत गईं। तेरी विपदाएँ दूर हो गईं। तू अपनी परीक्षा में पूर्णतः सफल रहा। तू धन्य है। आज मैं तुझ पर परम प्रसन्न हूँ। अश्विनी कुमारों ने जो वरदान तुझे दिया है, वह अक्षरशः सत्य होगा। मेरी दी हुई विद्या तुझमें अनेक गुणित होकर फलवती बनेगी। तरा हर तरह से कल्याण होगा। सारे वेद-शास्त्र और लौकिक तथा व्यावहारिक ज्ञान-विज्ञान तेरे लिए हस्तामलकवत् होंगे। यह अश्विनी-कुमारों का दिया हुआ पिष्ठक तू खा ले और कल अपने दीक्षान्त संस्कार की तैयारी कर।'

उपमन्यु को गुरु के इन शुभाशावाँदों की वर्षा में केवल इतना ही अनुभव होता रहा कि वह जो कुछ इस क्षण देख और सुन रहा है, वह सब कहीं स्वप्न तो नहीं है। क्याकि ऐसी स्वर्गीय सिद्धियों को एक साथ ही हस्तगत करने की कल्पना उसने अपने जीवन में कभी की ही नहीं थी। वह चुपचाप अमृत के समान शीतल, सुखदाई गुरु के चरणों की धूल को पुनः अपने मस्तक में लगाकर अपना भ्रम दूर करता रहा।

दूसरे दिन प्रातःकाल उपमन्यु का दीक्षान्त संस्कार सम्पन्न कर गद्गद् वाणी और प्रसन्नता तथा प्रीति से बोझिल आँखों से अपने शिष्यों समेत आचार्य धौम्य ने अपने प्यारे शिष्य उपमन्यु को अपने पिता के आश्रम में वापस जाने की जब बिदाई दी तो प्रखर प्रतिभा, अमन्द बुद्धि और तेजस्विनी विद्या की चमक से देवोपम सर्वाङ्ग सुन्दर उपमन्यु की छटा देखने ही योग्य थी। अपार गुरुभक्ति और कृतज्ञता के भारी बोझों को सँभालने की मानों उसमें शक्ति भी नहीं रह गई थी।

———

वेद की गुरु-भक्ति

महर्षि आयोद धौम्य के एक शिष्य का नाम वेद था। वेद बाल्यकाल से ही बड़ा परिश्रमी, आज्ञाकारी तथा सरल स्वभाव का था। उसका शरीर भी खूब हृष्ट-पुष्ट तथा सुन्दर था। अपने पिता के घर से विद्याध्ययन के लिए वेद जब धौम्य के आश्रम में आया तो उस समय धौम्य वृद्ध हो चले थे। वृद्ध होने के कारण उनका शरीर बहुत दुबला हो चला था और अब युवावस्था की तरह उनके आश्रम में छात्रों की भीड़ भी नहीं रहती थी। अपनी असमर्थता के कारण बहुत दिनों तक धौम्य ने अपने आश्रम में नये छात्रों का प्रवेश बिल्कुल बंद कर रखा था। क्योंकि अब वह पहले की तरह दिन-रात लगे रहकर अपने सहस्रों छात्रों के अध्ययन-अध्यापन का पूरा प्रबन्ध नहीं कर पाते थे। उनकी वाणी की शक्ति भी क्षीण हो चली थी और एक आसन पर बैठकर अपने आश्रम के सम्पूर्ण छात्रों को पाठ पढ़ाने का जो उनका नियम और अभ्यास पिछले साठ वर्षों से चला आता था, उसमें बड़ी कठिनाई पड़ जाती थी। अपने नित्य कर्मों से छुटकारा पाने में भी अब पहले की तरह उनमें स्फूर्ति नहीं रह गई थी और दो-एक पाठ पढ़ा लेने के बाद ही उनके शरीर में दर्द होने लगता था, जिससे एक आसन पर बैठे रहना कठिन था।

वेद जब धौम्य के आश्रम में अध्ययनार्थ प्रविष्ट होने के लिए आया तो उसे भी अन्य छात्रों की भाँति महर्षि ने पहले मना कर दिया। किन्तु वेद इससे हतोत्साहित नहीं हुआ, वह महर्षि धौम्य के मना करने पर भी उनके आश्रम से वापस नहीं गया और एक कोने में चुपचाप पड़ा रह गया। दो-एक दिन तक तो वह धौम्य के सामने से नहीं गुजरा और किसी तरह छिप-छिपाकर काम चलाता रहा, किन्तु अब आश्रम में इतनी भीड़ तो थी नहीं, गिने-चुने दो-चार छात्र ही वहाँ शेष थे, अतः धौम्य को वेद के वहाँ ठहरने का पता शीघ्र ही लग गया और उन्होंने उसे

बुलाकर तथा उसकी गुरुभक्ति देखकर अपने आश्रम में प्रविष्ट कर लिया। वेद को इससे अपार प्रसन्नता हुई और वह अपना सब कुछ भूलकर धौम्य की सेवा-शुश्रूषा में दत्तचित्त होकर लग गया।

प्रति दिन सूर्योदय से चार घड़ी पूर्व ही निद्रा त्याग कर वेद अपने नित्य कर्मों तथा सन्ध्या-वन्दनादि से निवृत्त हो जाता और इसके बाद अपने आचार्य धौम्य की सेवा-शुश्रूषा में लग जाता। धौम्य का शरीर अब दिनों-दिन ढल रहा था। नेत्र के साथ कान, नाक, हाथ, पैर आदि सभी इन्द्रियाँ कमजोर हो गई थीं और उनसे ठीक से चला-फिरा भी नहीं जाता था। वेद उनके शरीर का एक अङ्ग सा बन गया। दिन-रात, शैया त्यागने से लेकर फिर से शैया पर जाने तक वह धौम्य की परछाईं के समान उनके पीछे-पीछे लगा रहता। उन्हें दैनिक क्रियाओं में सहायता देता। आश्रम की आवश्यकताओं की पूर्ति करता और गौओं, कृषि तथा बाग-बगीचों की भी पूरी देख-रेख रखता। उसका बलवान और सुन्दर शरीर सदैव अपार उत्साह, लगन तथा गुरु-भक्ति से यन्त्र के समान नाचता रहता। न कभी उसे आलस्य लगता था और न थकावट होती थी।

इस प्रकार कुछ ही दिनों में वेद अपनी अनन्य गुरुभक्ति, परिश्रम-शीलता तथा सरलता से आचार्य धौम्य का अतिप्रिय शिष्य बन गया। वृद्धावस्था में अपने शिष्यों के प्रति आचार्यों की ममता स्वभावतः बहुत बढ़ जाती है। वेद तो धौम्य का अनन्य आज्ञाकारी शिष्य था। आज तक किसी अन्य शिष्य ने वेद के समान अपार भक्ति से उनकी सेवा भी नहीं की थी। यद्यपि इसमें उनके शिष्यों का दोष नहीं था, क्योंकि उस युग में गुरु की सेवा का अत्यधिक महत्त्व था, और सभी शिष्य प्रतिस्पर्धा की भावना से विद्या के समान गुरु-सेवा में प्रवीणता प्राप्त करने के हृदय से अभिलाषी होते थे, किन्तु उन दिनों आचार्य धौम्य की दिनचर्या ही कुछ इस प्रकार की थी कि वे अपने निजी कार्यों में अपने शिष्यों की सेवा का सहारा लेने के नितान्त विरोधी थे। जब तक वे स्वयं अति अशक्त नहीं हो गये थे, प्रायः उन्होंने शिष्यों को अपने लिए समिधा या जल-

कुशादि लाने की कभी आज्ञा नहीं दी और यदि कभी कोई शिष्य उनके लिए अपनी ओर से कुछ करने-धरने को उत्साहित होता तो उसे कड़ाई से मना भी कर देते। उनका विश्वास था और इस व्रत को वे अपने जीवन भर निभाना भी चाहते थे कि गुरु को अपना सब कार्य अपने ही हाथों पूरा कर लेने का आदर्श उपस्थित करना चाहिए। किन्तु निर्दय बुढ़ापे ने धौम्य के इस व्रत को अब खण्डित कर दिया था। स्नानादि के लिये आश्रम से चलकर नदी तट तक पहुँचना, पूजा के लिए पुष्प, कुशादि का चयन करना, यज्ञादि के लिए समिधा आदि की व्यवस्था करना अब उनके वश में नहीं था। अतः वेद की अपनो ओर से प्रस्तुत की गई सब इन सेवाओं को, मन से न चाहते हुए भी, उन्होंने कभी इन्कार नहीं किया और धीरे-धीरे उसके अभ्यासी होते गये। और कुछ महीनों के बाद तो उन्हें यह अनुभव भी होने लगा कि वेद के बिना उनके आश्रम की व्यवस्था तथा उनके शरीर की आवश्यक क्रियाओं का संचालन असम्भव हो गया है।

फलतः वेद पर धौम्य की असीम कृपा हुई। एक लोभी गृहस्थ पिता का अपने एकलौते पुत्र पर जो ममता होती है, उससे भी बढ़कर आचार्य धौम्य को अपने इस वृद्धावस्था के शिष्य पर ममता हो गई और उठते-बैठते, सोते-जागते-सर्वदा वे मन से उसकी गुरुभक्ति के प्रशंसक बन गये। उन्होंने मुक्तभाव से अपनी सारी विद्या वेद को सौंप दी। वेद की प्रतिभा और बुद्धि भी ऐसी ही थी कि अपेक्षित काल से भी पहले ही वह अपने आचार्य के समान प्रकाण्ड विद्वान् बन गया। शरीर उसका पहले ही से सर्वाङ्ग सुन्दर था। बुद्धि और विवेक पहले ही से श्रद्धापूर्ण था। परिश्रम और निष्ठा में प्रमाद कभी था ही नहीं, अतः आचार्य धौम्य की कृपा से वह थोड़े ही दिनों में अपने अन्य सहपाठियों को पीछे कर बहुत आगे बढ़ गया।

वेद अब धौम्य का वास्तविक उत्तराधिकारी बन गया था। किन्तु आश्रम छोड़ कर उसके अपने पिता के घर वापस चले जाने के बाद आचार्य

को बड़ा कष्ट होगा, क्योंकि इधर बहुत दिनों से उसकी अटूट सेवा-शुश्रूषा के कारण जो सुख-शान्ति और सुविधा उन्हें मिल चुकी थी, वह किसी अन्य छात्र द्वारा सम्भव नहीं थी। अतः धौम्य ने एक दिन एकान्त में वेद से कहा—

'वत्स ! मैं जानता हूँ कि मेरे द्वारा सभी विद्याओं और शास्त्रों का सम्यक् अध्ययन तुम कर चुके हो, और इस प्रकार अपने पिता के घर वापस जाने का अवसर तुम्हारा आ गया है, किन्तु मेरी इच्छा है कि अभी कुछ दिनों तक तुम और मेरे आश्रम में मेरे साथ रहो, क्योंकि तुम जानते हो, तुम्हारे चले जाने के बाद मेरे और आश्रम के कार्यों में बड़ी कठि-नाइयाँ उपस्थित हो जायेंगी। अतः जब तक कोई ऐसी व्यवस्था नहीं हो जाती, तब तक तुम यहाँ पूर्ववत बने रहो।'

वेद को तनिक भी खेद नहीं हुआ। यद्यपि अनेक वर्षों से वियुक्त अपने माता-पिता को देखने की उसकी बड़ी इच्छा थी और वर्षों से वह इस स्वर्णिम दिवस के आने की उत्सुक प्रतीक्षा भी कर रहा था, तथापि अपने आराध्य आचार्य के आश्रम की अवस्था भी उससे छिपी नहीं थी। वह भली-भाँति जानता था कि उसके चले जाने के बाद आचार्य को अपने शारीरिक धर्मों को निपटाने में भी बड़ी कठिनाइयाँ हो जायेंगी। अतः आचार्य धौम्य की इस आज्ञा को उसने शिर झुकाकर स्वीकार किया और प्रसन्नता भरी वाणी में बोला—

'पूज्य गुरुदेव ! अब तो मैं अपने अध्ययन और स्वाध्याय के कार्यों, से भी कुछ मुक्त हूँ, अतः मेरे पास जो कुछ भी समय है, वह सारा का सारा आपकी और आश्रम की सेवाओं में ही लगेगा। मैं तब तक आपके चरणों को छोड़कर अपने गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने के लिए नहीं जा सकूँगा गुरुदेव ! जब तक देख न लूँगा कि मेरे चले जाने के बाद भी यहाँ के और आपके कार्य पूर्ववत् चलने लगेंगे।'

यह कहकर वह अपने आचार्य के चरणों में पुनः झुक गया, उसकी वाणी अवरुद्ध थी और उसके नेत्रों से आँसुओं की धारा बह रही थी।

अपने पूज्य आचार्य की शारीरिक असमर्थता को देखकर उसमें करुणा उमड़ पड़ी थी।

आचार्य धौम्य ने वेद को अपने शिथिल अङ्गों में लिपटा लिया। अपने प्रेमाश्रुओं से उसका अभिषेक किया और आशीर्वादों की वर्षा करते हुए वह बोले—

'वत्स वेद ! अपने जीवन की सन्ध्या में एक उज्जवल नक्षत्र की भाँति तुम्हें पाकर मैं परम प्रसन्न हूँ। तुम्हारा भविष्य मंगलमय होगा वत्स ! इस संसार में तू सभी सिद्धियों का उपभोग करेगा। रोग-दोषादि व्याधियाँ तुम्हें कभी न व्यापेंगी और न कभी किसी वस्तु का ही तुम्हें अभाव होगा। इस संसार में जन्म लेकर जिन-जिन कामनाओं की कल्पना प्राणी कर सकता है, वे सभी तुम्हारे जीवन में फलीभूत होंगी।'

वेद का जीवन कृतार्थ हो गया। अपने महान् तपस्वी आचार्य की सम्पूर्ण विद्या और आशीर्वाद-प्राप्ति की इस वर्षा में वह सोच भी न सका कि इसका क्या प्रतिदान किया जाय। उसने शिर झुका लिया और उस दिन से गुरु की सेवा के लिए उसने रही-सही कसर भी पूरी कर दी। कठोर शीत हो या असह्य गर्मी और लू चल रही हो, घनघोर वर्षा हो रही हो या अँधेरी रात हो, वेद ने अपने शरीर की कभी चिन्ता नहीं की। वह अनन्य भाव से गुरु चरणों पर अपने को निछावर कर चुका था। अध्ययन के कार्यों से अवकाश उसे मिल ही गया था। अतः अब वह अपना सारा समय आश्रम की सुचारु व्यवस्था और आचार्य की सेवा में लगाता था।

आचार्य के आश्रम के खेतों में एक कृषक के समान वह कुदाल तथा फावड़े चलाता। बुआई-सिंचाई करता और बाग-बगीचों में पौधे लगाता। फूल तोड़ता, पके फल तोड़ता, यज्ञ के लिए समिधा एकत्र करता, कुश लाता और फसलों की स्वयं कटाई कराके बड़े से बड़ा बोझ स्वयं अपने शिर पर उठा कर ले चलता। भूख-प्यास, सरदी, गर्मी, धूप और वर्षा की चिन्ता उसे थी ही नहीं। जब कभी किसी काम में वह लग जाता, तब बिना उसे

पूरा किये उठता नहीं था। किन्तु यह सब काम करते हुए भी अपने आचार्य की सेवा-शुश्रूषा के कामा में उससे कभी त्रुटि नहीं होने पाती थी।

इस प्रकार बहुत वर्ष जब बीत गये तो एक दिन वेद को बुलाकर धौम्य ने उसे अपने पिता के घर जाने की आज्ञा देते हुए कहा—

'वत्स वेद ! तुम्हारी चिर साधना पूरी हुई। हमारे आश्रम में रहकर अपनी अटूट सेवा, सावधानी तथा परिश्रम से तुमने जो जीवन व्यतीत किया है, वह अन्यों के लिए सुगम नहीं हो। मैं तुम्हें अपने आशीर्वाद पहले ही दे चुका हूँ। आज मेरी आज्ञा है कि अब तुम अपने पिता के आश्रम में वापस जाओ और मुझसे जो कुछ विद्या और शास्त्र-ज्ञान प्राप्त कर चुके हो, उसका सदुपयोग करो। वत्स ! दैनिक जीवन के कार्यों में व्यस्त रहकर भी तुम कभी स्वाध्याय से विमुख न होना। अपने अतिथियों और अभ्यागतों के लिए कुछ अदेय न समझना। माता और पिता को देवता के समान आदर देना। कभी ऐसा कोई काम न करना, जिससे उन्हें दुखी होना पड़े। अपने पड़ोसियों, परिजनों और ग्राम्यजनों को सुख पहुँचाना। कभी निष्ठुर वाणी न बोलना, जिससे किसी को खेद हो।

'बेटा ! सभी धर्मों एवं शास्त्रों का निचोड़ मैं तुम्हें इतने ही में बता देता हूँ कि जो कुछ तुम्हें अपने लिए प्रीतिकर न प्रतीत हो, वह तुम दूसरों के लिए भी मत करना। क्योंकि जो चीज अपने लिए अहितकर अथवा प्रतिकूल होती है, वही सबके लिए अहितकर और प्रतिकूल होती है।

मैं अब नितान्त वृद्ध हो गया हूँ, शीघ्र ही मेरी जीवन यात्रा की समाप्ति होगी, अतः मै चाहता हूँ कि मेरे जीवन-दीप के बुझने के पूर्व ही तुम्हारे आश्रम की मर्यादा और प्रतिष्ठा का गुणगान अपने कानों से सुन सकूँ। क्योंकि एक आचार्य अथवा कुलपति के लिए सबसे बड़ा सुख और सन्तोष का विषय यही है कि उसके जीवन-काल में ही उसका शिष्य उसका सच्चा उत्तराधिकारी बन जाय। अतः आयुष्मन् वेद ! तुम मेरी इस आशा को फलवती बनाकर अन्त समय में भी मेरे लिए सुखदायी बनो।'

वेद के दोनों दीर्घायत नेत्र उसके भरे हुए हृदय की गहरी वेदना के बोझ को अश्रुओं के बहाने बाहर निकालने लगे। वह ऐसी करुण स्थिति में अपने गुरु को छोड़कर जाना नहीं चाहता था, किन्तु गुरु की अवज्ञा करने में भी उसे भय था। अतः चुपचाप उनकी आज्ञा लेकर वह अपने पिता के आश्रम की ओर चल पड़ा।